

Chapter बीस

मैत्रेय-विदुर संवाद

शौनक उवाच

महीं प्रतिष्ठामध्यस्य सौते स्वायम्भुवो मनुः ।

कान्यन्वतिष्ठद्द्वाराणि मार्गायावरजन्मनाम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

शौनकः—शौनक; उवाच—कहा; महीम्—पृथ्वी को; प्रतिष्ठाम्—स्थित; अध्यस्य—प्राप्त करके; सौते—हे सूत गोस्वामी; स्वायम्भुवः—स्वायंभुव; मनुः—मनु ने; कानि—क्या; अन्वतिष्ठत्—किया; द्वाराणि—मार्ग; मार्गाय—निकलने के लिए; अवर—बाद में; जन्मनाम्—जन्म लेनेवालों का।

श्री शौनक ने पूछा—हे सूत गोस्वामी, जब पृथ्वी अपनी कक्ष्या में पुनः स्थापित हो गई तो स्वायंभुव मनु ने बाद में जन्म ग्रहण करने वाले व्यक्तियों को मुक्ति-मार्ग प्रदर्शित करने के लिए क्या-क्या किया ?

तात्पर्य : भगवान् का आदि शूकर अवतार स्वायंभुव मनु के काल में हुआ जबकि वर्तमान युग वैवस्वत मनु का काल है। प्रत्येक मनु का काल चारों युगों के चक्र से ७२ गुने काल तक रहता है और प्रत्येक चक्र ४३,२०,००० सौर वर्षों के तुल्य होता है। अतः एक मनु का राज्य ४३,२०,००० × ७२ सौर वर्षों तक रहता है। प्रत्येक मनु के काल में अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं और ब्रह्मा के एक दिन में ऐसे चौदह मनु होते हैं। यहाँ यह बताया गया है कि उन बद्धजिवों के मोक्ष के लिए मनु धार्मिक नियम बनाता है, जो इस संसार में भौतिक भोग के लिए आये हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि जो भी इस संसार में आकर भौतिक सुख भोगना चाहता है भोग की सारी सुविधाएँ उसे दी जाती हैं, किन्तु उसी के साथ उसके लिए मोक्ष का मार्ग भी खुला रहता है। इसीलिए शौनक ऋषि ने सूत गोस्वामी से पूछा, “पृथ्वी के अपनी कक्ष्या में पुनः स्थापित हो जाने पर स्वायंभुव मनु ने फिर क्या किया ?”

क्षत्ता महाभागवतः कृष्णस्यैकान्तिकः सुहृत् ।

यस्तत्याजाग्रजं कृष्णो सापत्यमघवानिति ॥ २ ॥

शब्दार्थ

क्षत्ता—विदुर; महा-भागवतः—भगवान् का परम भक्त; कृष्णस्य—श्रीकृष्ण का; एकान्तिकः—एकनिष्ठ भक्त; सुहृत्—मित्र; यः—जो; तत्याज—त्याग दिया; अग्र-जम्—अपने बड़े भाई (राजा धृतराष्ट्र) को; कृष्णे—कृष्ण के प्रति; स-अपत्यम्—अपने सौ पुत्रों सहित; अघ-वान्—अपराधी; इति—इस प्रकार।

शौनक ऋषि ने विदुर के बारे में जानना चाहा, जो भगवान् कृष्ण का महान भक्त एवं सखा था और जिसने भगवान् के लिए ही अपने उस ज्येष्ठ भाई का साथ छोड़ दिया था जिसने अपने पुत्रों के साथ मिलकर भगवान् की इच्छा के विरुद्ध षड्यंत्र किया था।

तात्पर्य : यहाँ उस घटना का उल्लेख है जब कि विदुर अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र का आश्रय त्याग कर तीर्थस्थानों का भ्रमण करते हुए अन्त में हरद्वार में मैत्रेय से मिले थे। यहाँ पर शौनक ऋषि, विदुर एवं मैत्रेय के बीच हुई वार्ता के विषयों के सम्बन्ध में जिज्ञासा कर रहे हैं। विदुर की विशेषता यह थी कि वे न केवल भगवान् के मित्र थे, वरन् साथ ही महान् भक्त भी थे। श्रीकृष्ण युद्ध बन्द करने और चचेरे भाइयों के बीच अनबन को दूर करने का प्रयास कर रहे थे, किन्तु जब उन्होंने उनकी सलाह नहीं मानी तो क्षत्ता अर्थात् विदुर अत्यन्त अप्रसन्न हुए और उन्होंने उस स्थान को छोड़ दिया। भक्त के रूप में विदुर ने ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया कि जहाँ कहीं भी श्रीकृष्ण का आदर न हो वह स्थान मनुष्यों के रहने योग्य नहीं है। भक्त भले ही अपने निजी हितों के बारे में सहिष्णु बना रहे, किन्तु यदि भगवान् या उनके भक्तों का अनादर हो रहा हो तो उसे सहिष्णु नहीं बने रहना चाहिए। यहाँ पर *अघवान्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह सूचित करता है कि धृतराष्ट्र के पुत्र कौरवों की हार इसीलिए हुई, क्योंकि उन्होंने श्रीकृष्ण के उपदेश का उल्लंघन करके पापकर्म किया था।

द्वैपायनादनवरो महित्वे तस्य देहजः ।

सर्वात्मना श्रितः कृष्णं तत्परांश्चाप्यनुव्रतः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

द्वैपायनात्—व्यासदेव से; अनवरः—किसी प्रकार से हेय नहीं; महित्वे—महानता में; तस्य—उसका (व्यास का); देह-जः—उसके शरीर से उत्पन्न; सर्व-आत्मना—अपने सम्पूर्ण मन से; श्रितः—शरण ली; कृष्णम्—भगवान् श्रीकृष्ण की; तत्-परान्—उनमें अनुरक्त; च—तथा; अपि—भी; अनुव्रतः—पालन किया।

विदुर वेदव्यास के आत्मज थे और उनसे किसी प्रकार से कम न थे। इस तरह उन्होंने पूर्ण मनोभाव से श्रीकृष्ण के चरणकमलों को स्वीकार किया और वे उनके भक्तों के

प्रति अनुरक्त थे।

तात्पर्य : विदुर का इतिहास ऐसा है कि वे एक शूद्र माता के गर्भ से उत्पन्न हुए थे, किन्तु उनके रैतस पिता वेदव्यास थे; अतः वे किसी भी प्रकार से वेदव्यास से कम नहीं थे। चूँकि वे महान् पिता के पुत्र थे, जिन्हें नारायण का अवतार माना जाता था और जिन्होंने समस्त वैदिक साहित्य का सृजन किया था, अतः विदुर भी महान् व्यक्ति थे। उन्होंने श्रीकृष्ण को अपना आराध्य भगवान् स्वीकार किया और उनके उपदेशों का पूर्ण मनोभाव से पालन किया।

किमन्वपृच्छन्मैत्रेयं विरजास्तीर्थसेवया ।

उपगम्य कुशावर्त आसीनं तत्त्ववित्तमम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; अन्वपृच्छत्—पूछा; मैत्रेयम्—मैत्रेय ऋषि से; विरजाः—विदुर जो भौतिक कल्मष से रहित थे; तीर्थ-सेवया—तीर्थस्थलों में जाकर; उपगम्य—मिल कर; कुशावर्त—कुशावर्त (हरद्वार) में; आसीनम्—स्थित; तत्त्व-वित्तमम्—आत्म-विज्ञान के आदि ज्ञाता।

तीर्थस्थलों की यात्रा करने से विदुर सारी विषय वासना से शुद्ध हो गये। अन्त में वे हरद्वार पहुँचे जहाँ आत्मज्ञान के ज्ञाता एक महर्षि से उनकी भेंट हुई जिससे उन्होंने कुछ प्रश्न किये। अतः शौनक ऋषि ने पूछा कि मैत्रेय से विदुर ने और क्या-क्या पूछा ?

तात्पर्य : यहाँ पर *विरजास्तीर्थ सेवया* शब्द विदुर के लिए प्रयुक्त हैं, जो तीर्थस्थानों की यात्रा करने के कारण समस्त कल्मषों से पूरी तरह पवित्र हो चुके थे। भारत में सैकड़ों पवित्र तीर्थस्थल हैं जिनमें से प्रयाग, हरद्वार, वृन्दावन तथा रामेश्वरम प्रमुख हैं। राजनीति तथा कूटनीति से भरे हुए अपने घर को त्याग कर विदुर समस्त तीर्थों की यात्रा करके पवित्र होना चाहते थे, क्योंकि ये तीर्थ इस प्रकार स्थित हैं कि यदि कोई वहाँ जाय तो स्वतः पवित्र हो जाता है। वृन्दावन के लिए तो यह विशेष रूप से सत्य है। वहाँ कोई भी व्यक्ति जा सकता है और यदि वह पापी भी है, तो वहाँ तुरन्त उसे आध्यात्मिक जीवन का वातावरण अनुभव होने लगता है और वह स्वतः कृष्ण तथा राधा के नामों का जप करने लगता है। इसको हमने प्रत्यक्ष देखा है और अनुभव है। शास्त्रों में यह संस्तुति की गई है कि सक्रिय जीवन से विरक्त होकर वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करके मनुष्य को तीर्थों की यात्रा करनी चाहिए जिससे वह अपने आपको शुद्ध

कर सके। विदुर ने अपने इस कर्तव्य को भलीभाँति निबाहा और अन्त में वे कुशावर्त अर्थात् हरद्वार पहुँचे जहाँ मैत्रेय मुनि रह रहे थे।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मनुष्य को तीर्थों की यात्रा केवल स्नान करने के लिए नहीं करनी चाहिए, वरन् वहाँ पहुँचकर मैत्रेय जैसे परम ऋषियों की खोज करनी चाहिए और उनसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता तो तीर्थस्थलों में जाना समय का अपव्यय मात्र होगा। वैष्णव सम्प्रदाय के महान् आचार्य नरोत्तम दास ठाकुर ने फिलहाल इस युग में ऐसे तीर्थस्थानों की यात्रा की मनाही की है, क्योंकि समय इतना बदल चुका है कि इन स्थानों के वर्तमान निवासियों का आचरण देखकर निष्ठावान व्यक्ति कुछ दूसरी ही धारणा बना सकता है। उन्होंने संस्तुति की है कि ऐसे स्थानों में न जाकर मनुष्य को चाहिए कि वह अपने मन को गोविन्द में केन्द्रित करे। इससे उसे लाभ होगा। दर असल, किसी स्थान में रहकर अपने मन को गोविन्द में रमाना आध्यात्मिकता में अत्यन्त प्रगति कर चुके पुरुषों का काम है यह सामान्य पुरुषों के वश की बात नहीं। सामान्य पुरुष तो अब भी प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन तथा हरद्वार जैसे पवित्र स्थानों की यात्रा से लाभ उठा सकते हैं।

इस श्लोक में कहा गया है कि मनुष्य को चाहिए कि वह तत्त्ववित् अर्थात् ईश्वर के विज्ञान को जानने वाले की खोज करे। तत्त्ववित् का अर्थ है, “परम सत्य को जानने वाला।” तीर्थस्थानों में भी अनेक छद्म ब्रह्मविद् पाये जाते हैं। अतः मनुष्य को उपदेश ग्रहण करने के लिए वास्तविक व्यक्ति की तलाश करने के लिए समझ होनी चाहिए; तभी विभिन्न तीर्थस्थानों की यात्रा से लाभान्वित होने का उसका प्रयास सफल होगा। मनुष्य को समस्त कल्मषों से मुक्त होने के साथ ही साथ कृष्ण-विज्ञान को जानने वाले व्यक्ति की खोज करनी होगी। कृष्ण निष्ठावान व्यक्ति की सहायता करते हैं जैसाकि श्रीचैतन्य-चरितामृत में कहा गया है—गुरु-कृष्ण-प्रसादे—गुरु तथा कृष्ण की कृपा से मोक्ष का मार्ग प्राप्त होता है। यदि कोई निष्ठा से आध्यात्मिक मोक्ष चाहता है, तो प्रत्येक हृदय में स्थित श्रीकृष्ण उसे बुद्धि प्रदान करते हैं कि

वह उपयुक्त गुरु खोज निकाले। मैत्रेय जैसे गुरु की कृपा से मनुष्य को उचित शिक्षा प्राप्त होती है और वह आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ता है।

तयोः संवदतोः सूत प्रवृत्ता ह्यमलाः कथाः ।

आपो गाङ्गा इवाघघ्नीहरेः पादाम्बुजाश्रयाः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तयोः—जब दोनों (मैत्रेय तथा विदुर); संवदतोः—वार्तालाप कर रहे थे; सूत—हे सूत; प्रवृत्ताः—निकली हुई; हि—निश्चय ही; अमलाः—निर्मल; कथाः—आख्यान; आपः—जल; गाङ्गाः—गंगा नदी का; इव—सदृश; अघ-घ्नीः—समस्त पापों का नाश करने वाला; हरेः—भगवान् के; पाद-अम्बुज—चरणारविन्द; आश्रयाः—आश्रित, शरणागत।

शौनक ने विदुर तथा मैत्रेय के बीच होने वाले वार्तालाप के सम्बन्ध में प्रश्न किया कि भगवान् की निर्मल लीलाओं के अनेक आख्यान रहे होंगे। ऐसे आख्यानों को सुनना गंगाजल में स्नान करने के सदृश है क्योंकि इससे सभी पाप-बन्धन छूट सकते हैं।

तात्पर्य : गंगा नदी का जल इसलिए शुद्ध है, क्योंकि यह सीधे ही भगवान् के पाद-श्री से निकलता है। भगवद्गीता गंगाजल के ही समान उत्तम है, क्योंकि यह भगवान् के मुख से निकली है। यही बात भगवान् की किसी लीला या उनके दिव्य कार्यकलाप से सम्बन्धित प्रत्येक घटना के लिए सत्य है। भगवान् परमेश्वर हैं; उनके शब्दों, उनके प्रस्वेदन या उनकी लीलाओं में कोई अन्तर नहीं है। गंगा जल, उनकी लीलाओं का वर्णन तथा उनके शब्द ये सभी एक ही परम पद पर हैं, अतः इनमें से किसी एक की शरण ग्रहण करना समान रूप से उत्तम है। श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है कि श्रीकृष्ण से सम्बन्धित कोई भी वस्तु दिव्य पद पर होती है। यदि हम अपने समस्त कार्यकलापों का तालमेल भगवान् से बैठा लें तो हम भौतिक पद पर नहीं वरन् आत्मिक पद पर स्थित होते हैं।

ता नः कीर्तय भद्रं ते कीर्तन्योदारकर्मणः ।

रसज्ञः को नु तृप्येत हरिलीलामृतं पिबन् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ताः—उनकी वार्ता; नः—हमको; कीर्तय—सुनाइये; भद्रम् ते—आपका मंगल हो; कीर्तन्य—जपना चाहिए; उदार—उदार; कर्मणः—कार्य; रस-ज्ञः—भक्त जो रस को समझ सके, रसिक; कः—कौन; नु—निस्सन्देह; तृप्येत—तृप्ति का अनुभव करे; हरि-लीला-अमृतम्—भगवान् की लीलाओं का अमृत; पिबन्—पीते हुए।

हे सूत गोस्वामी, आपका मंगल हो, कृपा करके भगवान् के कार्यों को कह सुनाइये क्योंकि वे उदार एवं स्तुति के योग्य हैं। ऐसा कौन भक्त है, जो भगवान् की अमृतमयी लीलाओं को सुनकर तृप्त हो जाये ?

तात्पर्य : भगवान् की लीलाओं का आख्यान भक्तों द्वारा अत्यन्त आदरपूर्वक सुना जाना चाहिए क्योंकि वे लीलाएँ सदैव दिव्य पद पर घटित होती हैं। जो वास्तव में दिव्य धरातल पर स्थित हैं, वे भगवान् की लीलाओं की कथा सुनते हुए कभी नहीं अघाते। उदाहरणार्थ, यदि कोई सिद्ध पुरुष भगवद्गीता पढ़ता है, तो वह कभी तृप्त नहीं होता। भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत की कथाओं को हजार-हजार बार पढ़ लेने पर भी भक्तों को उनकी नई-नई बातों में निश्चित रूप से आनन्द मिलता है।

एवमुग्रश्रवाः पृष्ठ ऋषिभिर्नैमिषायनैः ।

भगवत्यर्पिताध्यात्मस्तानाह श्रूयतामिति ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; उग्रश्रवाः—सूत गोस्वामी; पृष्ठः—पूछे जाने पर; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; नैमिष-अयनैः—जो नैमिष के जंगल (नैमिषारण्य) में एकत्र हुए थे; भगवति—भगवान् को; अर्पित—अर्पित; अध्यात्मः—अपना मन; तान्—उनसे; आह—कहा; श्रूयताम्—सुनो; इति—इस प्रकार।

नैमिषारण्य के ऋषियों द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर रोमहर्षण के पुत्र सूत गोस्वामी ने, जिनका मन भगवान् की दिव्य लीलाओं में लीन था, कहा—अब जो मैं कहता हूँ, कृपया उसे सुनें।

सूत उवाच

हरेर्धृतक्रोडतनोः स्वमायया

निशम्य गोरुद्धरणं रसातलात् ।

लीलां हिरण्याक्षमवज्ञया हतं

सञ्जातहर्षो मुनिमाह भारतः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत ने कहा; हरेः—भगवान् का; धृत—धारण किया; क्रोड—सूकर का; तनोः—शरीर; स्व-मायया—अपनी दैवी शक्ति से; निशम्य—सुनकर; गोः—पृथ्वी का; उद्धरणम्—उद्धार; रसातलात्—समुद्र के गर्भ से; लीलाम्—खिलवाड़; हिरण्याक्षम्—हिरण्याक्ष असुर; अवज्ञया—अवज्ञापूर्वक; हतम्—मारा गया; सञ्जात-हर्षः—परम प्रफुल्लित; मुनिम्—मुनि (मैत्रेय) से; आह—कहा; भारतः—विदुर ने।

सूत गोस्वामी ने आगे कहा—भरत के वंशज विदुर भगवान् की कथा सुन कर परम प्रफुल्लित हुए क्योंकि भगवान् ने अपनी दैवी शक्ति से शूकर का रूप धारण करके पृथ्वी को समुद्र के गर्भ से खेल-खेल में ऊपर लाने (लीला) तथा हिरण्याक्ष को उदासीन भाव से मारने का कार्य किया था। फिर विदुर मैत्रेय से इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : यहाँ यह कहा गया है कि भगवान् ने अपनी शक्ति से शूकर रूप धारण किया। उनका यह रूप वास्तव में बद्धजीव का रूप नहीं है। बद्धजीव को भौतिक नियमों के श्रेष्ठ नियन्त्रा के आदेश से विशेष देह धारण करनी होती है, किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् को किसी बाह्य शक्ति से बाध्य होकर शूकर रूप नहीं धारण करना पड़ा। *भगवद्गीता* में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है—जब भगवान् पृथ्वी में उतरते हैं, तो वे अपनी अंतरंगा शक्ति के द्वारा कोई एक रूप धारण करते हैं। फलतः भगवान् का रूप भौतिक शक्ति से कदापि निर्मित नहीं होता। मायावादियों का यह कथन कि जब भी ब्रह्म कोई रूप धारण करता है, तो वह माया से उसे स्वीकार करता है, यह मान्य नहीं है क्योंकि यद्यपि बद्धजीव की अपेक्षा माया श्रेष्ठ है, किन्तु वह श्रीभगवान् से श्रेष्ठ नहीं है, वह उनके वश में है जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है। माया उनके अधीक्षण में है, माया भगवान् का अतिक्रमण नहीं कर सकती। यह मायावादी विचारधारा कि जीवात्मा ही परम सत्य है, किन्तु माया द्वारा प्रच्छन्न है, अवैध है क्योंकि माया इतनी विराट नहीं है कि परमेश्वर को प्रच्छन्न कर ले। प्रच्छन्न करने की शक्ति ब्रह्म के अंश पर लागू हो सकती है, परब्रह्म पर नहीं।

विदुर उवाच

प्रजापतिपतिः सृष्ट्वा प्रजासर्गे प्रजापतीन् ।

किमारभत मे ब्रह्मन्प्रब्रूह्यव्यक्तमार्गवित् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; प्रजापति-पतिः—भगवान् ब्रह्मा ने; सृष्ट्वा—सृष्टि करके; प्रजा-सर्गे—जीवों की सृष्टि करने के उद्देश्य से; प्रजापतीन्—प्रजापतियों को; किम्—क्या; आरभत—प्रारम्भ किया; मे—मुझको; ब्रह्मन्—हे पवित्र ऋषि; प्रब्रूहि—बताइये; अव्यक्त-मार्ग-वित्—न जानने वालों का ज्ञाता।

विदुर ने कहा—हे पवित्र मुनि, आप हमारी समझ में न आने वाले विषयों को भी

जानते हैं, अतः मुझे यह बताएँ कि जीवों के आदि जनक प्रजापतियों को उत्पन्न करने के बाद ब्रह्मा ने जीवों की सृष्टि के लिए क्या किया ?

तात्पर्य : यहाँ पर अव्यक्त-मार्ग-वित् शब्द अत्यन्त सार्थक है, जिसका अर्थ है, “जो हमारी कल्पना शक्ति के परे है उसे जानने वाला।” अपनी कल्पना शक्ति से परे की बातें जानने के लिए शिष्य-परम्परा की श्रेणी के किसी श्रेष्ठ अधिकारी से सीखना पड़ता है। केवल इतना भी जान पाना कि हमारा पिता कौन है हमारी कल्पना के परे है। उसके लिए माता अधिकारी है। इसी प्रकार हमें कल्पना से परे प्रत्येक वस्तु को वास्तविक ज्ञाता अर्थात् विशेषज्ञ (अधिकारी) से जानना चाहिए। प्रथम अव्यक्त-मार्ग-वित् अर्थात् विशेषज्ञ ब्रह्मा हैं और उस शिष्य-परम्परा में दूसरे नारद हैं। मैत्रेय ऋषि का उसी शिष्य-परम्परा से सम्बन्ध है, अतः वे भी अव्यक्त-मार्ग-वित् हैं। कोई भी व्यक्ति जो प्रामाणिक शिष्य-परम्परा से सम्बद्ध है अव्यक्त मार्गवित् है अर्थात् ऐसा महापुरुष है, जो सामान्य बुद्धि से परे सब कुछ जानता है।

ये मरीच्यादयो विप्रा यस्तु स्वायम्भुवो मनुः ।

ते वै ब्रह्मण आदेशात्कथमेतदभावयन् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ये—जो; मरीचि-आदयः—मरीचि आदि महर्षि; विप्राः—ब्राह्मण; यः—जो; तु—निस्सन्देह; स्वायम्भुवः मनुः—तथा स्वायंभुव मनु; ते—वे; वै—निस्सन्देह; ब्रह्मणः—भगवान् ब्रह्मा के; आदेशात्—आज्ञा से; कथम्—कैसे; एतत्—यह ब्रह्माण्ड; अभावयन्—उत्पन्न हुआ।

विदुर ने पूछा—प्रजापतियों (मरीचि तथा स्वायंभुव मनु जैसे जीवों के आदि जनक)

ने ब्रह्मा के आदेश के अनुसार किस प्रकार सृष्टि की और इस दृश्य जगत का किस प्रकार विकास किया ?

सद्वितीयाः किमसृजन्स्वतन्त्रा उत कर्मसु ।

आहो स्वित्संहताः सर्व इदं स्म समकल्पयन् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

स-द्वितीयाः—अपनी पत्नियों सहित; किम्—क्या; असृजन्—उत्पन्न किया; स्व-तन्त्राः—स्वतन्त्र रहकर; उत—अथवा; कर्मसु—अपने कार्यों में; आहो स्वित्—अथवा; संहताः—मिलकर, एकसाथ; सर्वे—सभी प्रजापति; इदम्—यह; स्म समकल्पयन्—रचना की।

क्या उन्होंने इस जगत की सृष्टि अपनी-अपनी पत्नियों के सहयोग से की अथवा वे स्वतन्त्र रूप से अपना कार्य करते रहे? या कि उन्होंने संयुक्त रूप से इसकी रचना की?

मैत्रेय उवाच

दैवेन दुर्वितर्क्येण परेणानिमिषेण च ।

जातक्षोभाद्भगवतो महानासीद्गुणत्रयात् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; दैवेन—प्रारब्ध (भाग्य) द्वारा; दुर्वितर्क्येण—कल्पना शक्ति से परे; परेण—महाविष्णु द्वारा; अनिमिषेण—सनातन काल की शक्ति से; च—यथा; जात-क्षोभात्—सन्तुलन बिगड़ गया; भगवतः—श्रीभगवान् का; महान्—समस्त भौतिक तत्त्व (महत्-तत्त्व); आसीत्—उत्पन्न हुए थे; गुण-त्रयात्—तीन गुणों से।

मैत्रेय ने कहा—जब प्रकृति के तीन तत्त्वों के सहयोग का सन्तुलन जीवात्मा की अदृश्य क्रियाशीलता, महाविष्णु तथा कालशक्ति के द्वारा विशुद्ध हुआ तो समग्र भौतिक तत्त्व (महत्-तत्त्व) उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : यहाँ पर भौतिक सृष्टि के कारण का अत्यन्त रोचक वर्णन हुआ है। प्रथम कारण दैव अर्थात् बद्धजीव का भाग्य है। यह भौतिक सृष्टि बद्धजीव के सुख के लिए विद्यमान है, जो इन्द्रियतृप्ति के लिए उसी का झूठा स्वामी बनना चाहता है। किसी को यह नहीं ज्ञात है कि बद्धजीव ने सबसे पहले कब इस भौतिक प्रकृति पर स्वामित्व प्राप्त करने की इच्छा की, किन्तु वैदिक साहित्य से यह ज्ञात होता है कि यह भौतिक सृष्टि बद्धजीव के इन्द्रिय-सुख के निमित्त है। एक सुन्दर श्लोक है, जिसमें कहा गया है कि बद्धजीव के इन्द्रिय सुख का निष्कर्ष यह है कि जब बद्धजीव अपने प्रमुख कर्तव्य, भगवान् के प्रति सेवा, को भूल जाता है, तो वह इन्द्रिय-सुख का वातावरण तैयार करता है, जिसे माया कहते हैं और यही भौतिक सृष्टि का कारण है।

इस श्लोक में एक अन्य शब्द दुर्वितर्क्येण भी प्रयुक्त है। कोई यह तर्क नहीं कर सकता कि कब और कैसे बद्धजीव को इन्द्रिय-सुख की इच्छा हुई, किन्तु इसका कारण तो होना ही चाहिए। भौतिक प्रकृति ही बद्धजीव के इन्द्रिय-सुख के निमित्त वह वातावरण है, जिसकी सृष्टि भगवान् ने की है। यहाँ यह बताया गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकृति श्रीभगवान् विष्णु

द्वारा विक्षुब्ध की जाती है। तीन विष्णुओं का उल्लेख मिलता है। ये तीनों हैं—महाविष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध में इन तीनों विष्णुओं की व्याख्या की गई है और इस श्लोक में भी इसी की पुष्टि होती है कि विष्णु ही सृष्टि के कारण हैं। *भगवद्गीता* से भी हमें पता चलता है कि प्रकृति कृष्ण अथवा विष्णु की अध्यक्षता में कार्य करना शुरू करती है और अब भी कार्यशील है, किन्तु श्रीभगवान् अपरिवर्तित हैं। भूल से यह नहीं सोचना चाहिए कि चूँकि यह सृष्टि श्रीभगवान् से उद्भूत है, अतः उन्होंने अपने आपको भौतिक दृश्य जगत में रूपान्तरित कर दिया है। वे सदैव अपने सगुण रूप में विद्यमान हैं, किन्तु यह दृश्य जगत उनकी अचिन्त्य शक्ति से उत्पन्न होता है। उस शक्ति की कार्यविधि को समझ पाना कठिन है, किन्तु वैदिक ग्रंथों से पता चलता है कि बद्धजीव अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की अध्यक्षता में प्रकृति के नियमानुसार उसे विशेष देह धारण करना होता है। परमात्मा के रूप में भगवान् सदैव उसके संग रहते हैं।

रजःप्रधानान्महतस्त्रिलिङ्गो दैवचोदितात् ।

जातः ससर्ज भूतादिवियदादीनि पञ्चशः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

रजः-प्रधानात्—रजोगुण की प्रधानता से; महतः—महत्-तत्त्व से; त्रि-लिङ्गः—तीन प्रकार का; दैव-चोदितात्—श्रेष्ठ अधिकारी के द्वारा प्रेरित; जातः—उत्पन्न हुआ; ससर्ज—विकसित हुआ; भूत-आदिः—अहंकार (भौतिक तत्त्वों का मूल); वियत्—शून्य; आदीनि—इत्यादि; पञ्चशः—पाँच पाँच के समूहों में।

जीव के भाग्य (दैव) की प्रेरणा से रजोगुण प्रधान महत्-तत्त्व से तीन प्रकार का अहंकार उत्पन्न हुआ। फिर अहंकार से पाँच-पाँच तत्त्वों के अनेक समूह उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : आद्य प्रकृति में तीन गुण होते हैं जिनसे पाँच-पाँच तत्त्वों के चार समूह उत्पन्न होते हैं। प्रथम समूह तात्त्विक है, जिसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश सम्मिलित हैं। पाँच तत्त्वों का दूसरा समूह *तन्मात्र* कहलाता है, जिससे सूक्ष्म तत्त्वों ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा गंध का बोध होता है। तीसरा समूह पाँच ज्ञानेन्द्रियों आँख, कान, नाक, जीभ तथा त्वचा का है। चौथा समूह पाँच कर्मेन्द्रियों जीभ, हाथ, पाँव, गुदा तथा लिंग का है। कुछ लोगों का

विचार है कि पाँच पाँच के ऐसे पाँच समूह हैं—पहला पाँच तत्त्व, दूसरा पाँच भूत, तीसरा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, चौथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँचवाँ पंचदेवता जो इन विभागों पर नियन्त्रण रखते हैं।

तानि चैकैकशः स्रष्टुमसमर्थानि भौतिकम् ।
संहत्य दैवयोगेन हैममण्डमवासृजन् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

तानि—उन तत्त्वों का; च—यथा; एक-एकशः—पृथक्-पृथक्; स्रष्टुम्—उत्पन्न करने में; असमर्थानि—असमर्थ; भौतिकम्—भौतिक ब्रह्माण्ड; संहत्य—संगठित करके; दैव-योगेन—परमेश्वर की शक्ति से; हैमम्—सोने की तरह चमकीला; अण्डम्—गोलक; अवासृजन्—उत्पन्न किया।

अलग-अलग रहकर ब्रह्माण्ड की रचना करने में असमर्थ होने के कारण वे परमेश्वर की शक्ति के सहयोग से संगठित हुए और फिर एक चमकीले अण्डे का सृजन करने में सक्षम हुए।

सोऽशयिष्ठाब्धिसलिले आण्डकोशो निरात्मकः ।
साग्रं वै वर्षसाहस्रमन्ववात्सीत्तमीश्वरः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सः—यह; अशयिष्ठा—पड़ा रहा; अब्धि-सलिले—कारणार्णव के जल में; आण्ड-कोशः—अण्डा; निरात्मकः—अचेत अवस्था में; साग्रम्—कुछ अधिक; वै—निस्सन्देह; वर्ष-साहस्रम्—एक हजार वर्षों तक; अन्ववात्सीत्—स्थित हो गया; तम्—अंडे में; ईश्वरः—भगवान्।

यह चमकीला अण्डा एक हजार वर्षों से भी अधिक काल तक अचेतन अवस्था में कारणार्णव के जल में पड़ा रहा। तब भगवान् ने इसके भीतर गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रवेश किया।

तात्पर्य : इस श्लोक से प्रतीत होता है कि सभी ब्रह्माण्ड कारणार्णव में तैर रहे हैं।

तस्य नाभेरभूत्पद्मं सहस्रार्कोरुदीधिति ।
सर्वजीवनिकायौको यत्र स्वयमभूत्स्वराट् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तस्य—भगवान् की; नाभेः—नाभि से; अभूत्—बाहर निकला; पद्मम्—कमल; सहस्र-अर्क—एक हजार सूर्यों से; उरु—अधिक; दीधिति—देदीप्यमान; सर्व—समस्त; जीव-निकाय—बद्धजीवों का आश्रय; ओकः—स्थान; यत्र—जहाँ; स्वयम्—अपने आप; अभूत्—आविर्भाव हुआ; स्व-राट्—सर्वशक्तिमान ब्रह्माजी।

गर्भोदकशायी भगवान् विष्णु की नाभि से हजार सूर्यों की दीप्ति सदृश प्रकाशमान

एक कमल पुष्प प्रकट हुआ। यह कमल पुष्प समस्त बद्धजीवों का आश्रय है और इस पुष्प से प्रकट होने वाले पहले जीवात्मा सर्वशक्तिमान ब्रह्मा थे।

तात्पर्य : इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि पिछली सृष्टि के प्रलय के पश्चात् भगवान् के शरीर के भीतर स्थित बद्ध जीवात्माएँ कमल के रूप में इकट्ठी हो कर बाहर निकल आईं। इसे हिरण्यगर्भ कहते हैं। इससे जो प्रथम जीवात्मा प्रकट हुआ वह ब्रह्मा जी थे, जो शेष दृश्य जगत की स्वतन्त्र रूप से सृष्टि करने में समर्थ हैं। इस कमल को एक हजार सूर्यों के प्रकाश के समान देदीप्यमान कहा गया है। इससे सूचित होता है कि परमेश्वर की अंशस्वरूप जीवात्माएँ भी उसी प्रकार की होंगी, क्योंकि भगवान् भी अपनी शारीरिक कान्ति को, जिसे ब्रह्मज्योति कहते हैं, चारों ओर फैलाते हैं। *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में वैकुण्ठलोक का जो वर्णन है उसकी इससे पुष्टि होती है। वैकुण्ठलोक में न तो धूप, न चाँदनी, न अग्नि और न बिजली की आवश्यकता होती है। वहाँ प्रत्येक लोक सूर्य के समान स्वतः प्रकाशमान है।

सोऽनुविष्टो भगवता यः श्रेते सलिलाशये ।

लोकसंस्थां यथा पूर्वं निर्ममे संस्थया स्वया ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सः—ब्रह्माजी ने; अनुविष्टः—प्रविष्ट किया गया; भगवता—भगवान् द्वारा; यः—जो; श्रेते—शयन करता है; सलिल-आशये—गर्भोदक सागर में; लोक-संस्थाम्—ब्रह्माण्ड; यथा पूर्वम्—पूर्ववत्; निर्ममे—निर्माण किया; संस्थया—बुद्धि से; स्वया—अपनी।

जब गर्भोदकशायी भगवान् ब्रह्मा के हृदय में प्रवेश कर गये तो ब्रह्मा को बुद्धि आई और इस बुद्धि से उन्होंने ब्रह्माण्ड की पूर्ववत् सृष्टि प्रारम्भ कर दी।

तात्पर्य : किसी काल विशेष में कारणोदकशायी भगवान् विष्णु-कारण सागर में शयन करते हैं और अपनी श्वास से हजारों ब्रह्माण्डों की सृष्टि करते हैं। तब वे प्रत्येक ब्रह्माण्ड में गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में पुनः प्रवेश करते हैं और अपने पसीने से प्रत्येक ब्रह्माण्ड के अर्धांश को भर देते हैं। शेष आधा भाग शून्य रहता है, जिसे बाह्य आकाश (अन्तरिक्ष) कहते हैं। तब उनके उदर से कमलपुष्प प्रकट होता है और प्रथम जीव ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है। तब भगवान् पुनः क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में ब्रह्मा समेत प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में प्रवेश

करते हैं। *भगवद्गीता* के पंद्रहवें अध्याय से इसकी पुष्टि हुई है। भगवान् कहते हैं, “मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति तथा विस्मृति सम्भव हैं।” कर्म के साक्षीस्वरूप भगवान् प्रत्येक जीवात्मा को विगत कल्पान्त के प्रलय के समय जिसकी जो इच्छा थी उसे तदनुसार स्मृति तथा बुद्धि प्रदान करते हैं। यह बुद्धि अपनी क्षमता के अनुसार अथवा कर्म के नियम द्वारा प्राप्त होती है।

ब्रह्मा प्रथम जीवात्मा हैं और श्रीभगवान् ने उन्हें रजोगुण का अधिकारी बनाया, अतः उन्हें आवश्यक बुद्धि प्रदान की गई जो इतनी व्यापक तथा शक्तिशाली है, जिससे वे श्रीभगवान् के नियन्त्रण से लगभग स्वतन्त्र हो गये। जिस प्रकार उच्च पद वाला मैनेजर किसी संस्थान के मालिक के ही समान स्वतन्त्र होता है उसी प्रकार यहाँ ब्रह्मा को स्वतन्त्र बताया गया है, क्योंकि ब्रह्माण्ड को वश में रखने वाले भगवान् के प्रतिनिधि-रूप में वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के ही समान शक्तिमान तथा स्वतन्त्र हैं। भगवान् ने ब्रह्मा के भीतर परमात्मा रूप में उन्हें सृजन करने की बुद्धि प्रदान की। अतः प्रत्येक जीवात्मा की बुद्धि उसकी अपनी नहीं होती; यह तो भगवान् की कृपा है कि मनुष्य सृष्टि कर सकता है। इसी संसार में ऐसे अनेक वैज्ञानिक तथा महान् कार्यकर्ता हैं जिनमें अद्भुत सृजन-शक्ति है, किन्तु वे परमेश्वर के निर्देशन के अनुसार ही सृष्टि करते हैं। कोई वैज्ञानिक भगवान् के निर्देशन से अनेक आश्चर्यमय आविष्कार कर सकता है, किन्तु उसके वश में न तो यह है कि अपनी बुद्धि से वह भौतिक प्रकृति के कठोर नियमों पर विजय पा ले, न ही भगवान् से ऐसी बुद्धि प्राप्त कर पाना सम्भव है, क्योंकि तब भगवान् की सर्वोच्चता बाधित होगी। इस श्लोक में कहा गया है कि ब्रह्मा ने ब्रह्माण्ड की सृष्टि की जैसी यह पहले थी। इसका अर्थ यह हुआ कि उन्होंने उसी नाम तथा रूपवाली प्रत्येक वस्तु की सृष्टि की जैसी कि वे पहले के दृश्य जगत में थीं।

ससर्जं च्छाययाविद्यां पञ्चपर्वाणामग्रतः ।

तामिस्रमन्धतामिस्रं तमो मोहो महातमः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ससर्ज—उत्पन्न किया; छाया—अपनी छाया से; अविद्याम्—अज्ञान; पञ्च-पर्वाणम्—पाँच प्रकार; अग्रतः—
सर्वप्रथम; तामिस्रम्—तामिस्र; अन्ध-तामिस्रम्-अन्ध-तामिस्र; तमः-तमस्; मोहः-मोह; महा-तमः-महा-तमस्, ओर्
महा-मोह.

ब्रह्मा ने सबसे पहले अपनी छाया से बद्धजीवों के अज्ञान के आवरण (कोश) उत्पन्न किये। इनकी संख्या पाँच है और ये तामिस्र, अन्ध-तामिस्र, तमस्, मोह तथा महामोह कहलाते हैं।

तात्पर्य : इस भौतिक संसार में इन्द्रियतृप्ति के उद्देश्य से जो बद्धजीव या जीवात्माएँ आती हैं, वे प्रारम्भ में पाँच विभिन्न दशाओं से आच्छादित रहती हैं। पहली दशा है तामिस्र कोश अर्थात् क्रोध। स्वाभाविक रूप से प्रत्येक जीवात्मा को थोड़ी स्वतन्त्रता प्राप्त है, किन्तु यदि जीवात्मा यह सोचे कि वह परमेश्वर के समान स्वतंत्र भोग क्यों नहीं करता या यह कि उन्हीं के समान मुक्त भोक्ता क्यों नहीं हो जाता तो यह उस किञ्चित स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कहा जाएगा। उसका अपनी इस स्वाभाविक स्थिति को भूलने का कारण क्रोध या द्वेष है। जीवात्मा भगवान् का शाश्वत अंश होने के कारण कभी भी भगवान् के समान भोक्ता नहीं बन सकता। किन्तु जब यह इसे भूल जाता है और भगवान् से समता करने लगता है, तो उसकी इस अवस्था (दृश्य) को तामिस्र कहते हैं। आत्मसाक्षात्कार के क्षेत्र में भी जीवात्मा की तामिस्र प्रवृत्ति बनी रहती है। इस भौतिक जीवन के बन्धन से छुटकारा पाने का प्रयत्न करते हुए अनेक लोग परब्रह्म से तादात्म्य चाहते हैं। उनके दिव्य कर्मों में भी यह तामिस्र की निम्न प्रवृत्ति बनी रहती है।

अन्ध-तामिस्र में मृत्यु को परम अन्त माना जाता है। नास्तिक सामान्य रूप से सोचते हैं कि यह शरीर ही आत्मा है और इस शरीर के अन्त होते ही सब कुछ अन्त हो जाता है, फलतः जब तक यह शरीर है तब तक वे भौतिक जीवन का आनन्द उठाना चाहते हैं। उनका यह सिद्धान्त इस प्रकार है—“जब तक जीवित रहो तब तक ठाठ-बाट से रहो। सभी प्रकार के पापों को करते हुए उन पर ध्यान न दो। अच्छा-अच्छा खाओ। माँगकर, उधार लेकर तथा चुरा कर पेट भरो और यह न सोचो कि चुराने तथा माँगने से तुम पाप-कर्मों के भागी होगे। इस भ्रान्त धारणा को भूल जाओ, क्योंकि मृत्यु के बाद सब कुछ समाप्त हो जाएगा। अपने जीवन

में जो कुछ किया जाता है उसके लिए कोई उत्तरदायी नहीं है।” इस नास्तिकतावादी विचारधारा से मानव सभ्यता विनष्ट हो रही है, यह नित्य जीवन के सातत्य का ज्ञान न होने के कारण है।

यह अंध-तामिस्र अज्ञान तमस् के कारण है। आत्मा के सम्बन्ध में कुछ भी न जानना तमस् है। यह भौतिक जगत भी प्रायः तमस् कहलाता है क्योंकि इसके ९९ प्रतिशत से अधिक जीव आत्मा के स्वरूप से अपरिचित रहते हैं। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि वह शरीर है, उसे आत्मा से सम्बन्ध में किसी प्रकार की जानकारी नहीं होती। इस भ्रान्त धारणावश वह सदैव सोचता रहता है, “यह मेरा शरीर है और इस शरीर से सम्बन्धित सभी वस्तुएँ मेरी हैं।” ऐसी दिग्भ्रमित जीवात्माओं के लिए संभोग-सुख ही इस भौतिक जगत का मूलाधार है। वस्तुतः इस भौतिक जगत में अज्ञानवश बद्धजीव संभोग जीवन से निर्देशित होते हैं और ज्योंही उन्हें विषयवासना का अवसर प्राप्त होता है, वे तथाकथित घर, मातृभूमि, सन्तान, सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य के प्रति आसक्त हो उठते हैं। ज्यों-ज्यों यह आसक्ति बढ़ती जाती है त्यों-त्यों मोह भी बढ़ता जाता है। इस प्रकार, “मैं तथा मेरा” विचार की वृद्धि होती जाती है और जब यह बढ़ जाता है, तो सारा संसार मोहग्रस्त हो जाता है, जिससे साम्प्रदायिकता, समाज, परिवार तथा राष्ट्रों का जन्म होता है और वे एक दूसरे से झगड़ते रहते हैं। महा-मोह का अर्थ है भौतिक सुख के पीछे पागल रहना। विशेषरूप से इस कलियुग में प्रत्येक मनुष्य भौतिक सुख की साज-सामग्री संग्रह करने के पीछे दीवाना रहता है। ये परिभाषाएँ *विष्णुपुराण* में सुन्दर ढंग से दी गई हैं। यथा

तमोऽविवेको मोहः स्याद् अन्तःकरणविभ्रमः ।

महामोहस्तु विज्ञेयो ग्राम्यभोग-सुखैषणा ॥

मरणं ह्यन्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते ।

अविद्या पञ्चपर्वेषा प्रादुर्भूता महात्मनः ॥

विससर्जात्मनः कायं नाभिनन्दंस्तमोमयम् ।

जगृहुर्यक्षरक्षांसि रात्रिं क्षुत्तृट्समुद्भवाम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

विससर्ज—फेंक दिया; आत्मनः—अपना; कायम्—शरीर; न—नहीं; अभिनन्दन्—प्रसन्न होकर; तमः—मयम्—अज्ञान से युक्त; जगृहः—अधिकार कर लिया; यक्ष-रक्षांसि—यक्ष तथा राक्षस; रात्रिम्—रात; क्षुत्—भूख; तृट्—प्यास; समुद्भवाम्—स्रोत ।

क्रोध के कारण ब्रह्मा ने उस अविद्यामय शरीर को त्याग दिया। इस अवसर का लाभ उठाकर यक्ष तथा राक्षसगण उस रात्रि रूप में स्थित शरीर पर अधिकार जमाने के लिए कूद-फाँद मचाने लगे। रात्रि भूख तथा प्यास की स्रोत है।

क्षुत्तृड्भ्यामुपसृष्टास्ते तं जग्धुमभिदुद्भुवुः ।

मा रक्षतैनं जक्षध्वमित्यूचुः क्षुत्तृडर्दिताः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

क्षुत्-तृड्भ्याम्—भूख तथा प्यास से; उपसृष्टाः—पराजित; ते—वे असुर (यक्ष तथा राक्षस); तम्—ब्रह्मा को; जग्धुम्—खाने को; अभिदुद्भुवुः—आगे को दौड़ा; मा—मत; रक्षत—बचाओ, छोड़ो; एनम्—उसको; जक्षध्वम्—खाओ; इति—इस प्रकार; ऊचुः—कहा; क्षुत्-तृट्-अर्दिताः—भूख तथा प्यास से आकुल ।

भूख तथा प्यास से अभिभूत होकर वे चारों ओर से ब्रह्मा को खा जाने के लिए दौड़े और चिल्लाए, “उसे मत छोड़ो, उसे खा जाओ।”

तात्पर्य : आज भी विश्व के कुछ देशों में यक्षों तथा राक्षसों के प्रतिनिधि विद्यमान हैं। ऐसा माना जाता है कि ऐसे असभ्य मनुष्यों को अपने ही बाप-दादों को मारने में मजा आता है और वे उन शरीरों को भूनकर प्रेम-उत्सव मनाते हैं।

देवस्तानाह संविग्नो मा मां जक्षत रक्षत ।

अहो मे यक्षरक्षांसि प्रजा यूयं बभूविथ ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

देवः—ब्रह्माजी ने; तान्—उनको; आह—कहा; संविग्नः—चिन्तित; मा—मत; माम्—मुझको; जक्षत—खाओ; रक्षत—रक्षा करो; अहो—ओह; मे—मेरे; यक्ष-रक्षांसि—हे यक्ष तथा राक्षसों; प्रजाः—पुत्र; यूयम्—तुम सब; बभूविथ—उत्पन्न हुए थे ।

देवताओं के प्रधान ब्रह्माजी ने घबराकर उनसे कहा, “मुझे खाओ नहीं, मेरी रक्षा करो। तुम मुझसे उत्पन्न हो और मेरे पुत्र हो चुके हो। अतः तुम लोग यक्ष तथा राक्षस हो।”

तात्पर्य : ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न असुर, यक्ष तथा राक्षस कहलाये क्योंकि उनमें से कुछ चिल्लाए कि ब्रह्मा को मारकर खा जाओ और कुछ ने कहा रक्षा मत करो। जिन्होंने कहा था कि ब्रह्मा को खा जाओ वे यक्ष कहलाए और जिन्होंने कहा इसकी रक्षा मत करो वे राक्षस अर्थात् मानवभक्षी कहलाए। यक्ष तथा राक्षस ये दोनों ब्रह्मा की आदि सृष्टि हैं और आज भी असभ्य मनुष्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं और में सारे संसार में फैले हुए हैं। वे तमोगुण से उत्पन्न हैं, अतः अपने आचरण के कारण वे राक्षस अर्थात् मानवभक्षी कहलाते हैं।

देवताः प्रभया या या दीव्यन्प्रमुखतोऽसृजत् ।
ते अहार्षुर्देवयन्तो विसृष्टां तां प्रभामहः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

देवताः—देवतागण; प्रभया—प्रकाश के तेज से; याः याः—जो जो; दीव्यन्—चमकते हुए; प्रमुखतः—मुख्य रूप से; असृजत्—उत्पन्न किया; ते—उन्होंने; अहार्षुः—अधिकार जमा लिया; देवयन्तः—सक्रिय होने से; विसृष्टाम्—पृथक् किया हुआ; ताम्—उस; प्रभाम्—तेज को; अहः—दिन।

तब उन्होंने प्रमुख देवताओं की सृष्टि की जो सात्त्विक प्रभा से चमचमा रहे थे। उन्होंने देवताओं के समक्ष दिन का तेज फैला दिया जिस पर देवताओं ने खेल-खेल में ही अधिकार जमा लिया।

तात्पर्य : रात्रि की सृष्टि के साथ असुर और दिन की उत्पत्ति के साथ देवता उत्पन्न हुए। दूसरे शब्दों में, यक्ष तथा राक्षस जैसे असुर अविद्या के गुण से और देवता सात्त्विकता के गुण से उत्पन्न हुए हैं।

देवोऽदेवाञ्जघनतः सृजति स्मातिलोलुपान् ।
त एनं लोलुपतया मैथुनायाभिपेदिरे ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

देवः—ब्रह्माजी ने; अदेवान्—असुरों को; जघनतः—अपने नितंबों से; सृजति स्म—उत्पन्न किया; अति-लोलुपान्—अत्यन्त कामुक (विषयी); ते—वे; एनम्—ब्रह्माजी; लोलुपतया—कामवश; मैथुनाय—संभोग के लिए; अभिपेदिरे—निकट आये।

ब्रह्माजी ने अपने नितंब प्रदेश से असुरों को उत्पन्न किया जो अत्यन्त कामी थे। अत्यन्त कामी होने के कारण वे संभोग के लिए उनके निकट आ गये।

तात्पर्य : विषयी जीवन इस भौतिक संसार की आधारभूमि है। यहाँ पर भी यही दुहराया गया है कि असुर विषय-वासना के अत्यन्त प्रेमी होते हैं। जो विषय-वासना से जितना ही मुक्त होता जाता है, वह उतना ही देवत्व के स्तर की ओर अग्रसर होता है और जिसका काम-वासना के प्रति जितना झुकाव होता है, वह उतना ही आसुरी जीवन की अधोगति को प्राप्त होता है।

ततो हसन्स भगवानसुरैर्निरपत्रपैः ।

अन्वीयमानस्तरसा क्रुद्धो भीतः परापतत् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; हसन्—हँसते हुए; सः भगवान्—पूज्य ब्रह्माजी; असुरैः—असुरों के द्वारा; निरपत्रपैः—निर्लज्ज; अन्वीयमानः—पीछा करते हुए; तरसा—तेजी से; क्रुद्धः—नाराज; भीतः—भयभीत; परापतत्—भाग गया।

पहले तो पूज्य ब्रह्माजी उनकी मूर्खता पर हँसे, किन्तु उन निर्लज्ज असुरों को अपना पीछा करते देखकर वे क्रुद्ध हुए और भयभीत होकर हड़बड़ी में भागने लगे।

तात्पर्य : विषयी असुरों को अपने पिता के प्रति भी आदरभाव नहीं रह जाता, अतः ब्रह्मा जैसे साधु पिता के लिए सबसे अच्छी नीति यही है कि ऐसे असुर-पुत्रों का परित्याग कर दे।

स उपव्रज्य वरदं प्रपन्नार्तिहरं हरिम् ।

अनुग्रहाय भक्तानामनुरूपात्मदर्शनम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सः—ब्रह्माजी; उपव्रज्य—पास पहुँच कर; वर-दम्—समस्त वरों के दाता; प्रपन्न—चरणकमल की शरण लेने वाले; आर्ति—कष्ट; हरम्—दूर करने वाला; हरिम्—भगवान् श्री हरि के; अनुग्रहाय—कृपावश; भक्तानाम्—अपने भक्तों के प्रति; अनुरूप—उपयुक्त रूप में; आत्म-दर्शनम्—अपने आप को प्रकट करने वाला।

वे भगवान् श्री हरि के पास पहुँचे जो समस्त वरों को देने वाले तथा अपने भक्तों एवं अपने चरणों की शरण ग्रहण करने वालों की पीड़ा को हरने वाले हैं। वे अपने भक्तों की तुष्टि के लिए असंख्य दिव्य रूपों में प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : भक्तानाम् अनुरूपात्मदर्शनम् शब्दों का अर्थ है कि भक्तों की इच्छानुरूप भगवान् अपने विविध रूपों को प्रकट करते हैं। उदाहरणार्थ, हनुमानजी (बज्राङ्ग जी) भगवान् को भगवान् श्रीरामचन्द्र के रूप में देखना चाहते थे जब कि कुछ अन्य वैष्णव राधाकृष्ण रूपमें

देखना चाहते हैं और कुछ ऐसे हैं, जो भगवान् को लक्ष्मीनारायण रूप में देखना चाहते हैं। मायावादी दार्शनिकों का विचार है कि यद्यपि भगवान् द्वारा ये सभी रूप भक्तों की इच्छानुसार धारण किये जाते हैं, किन्तु वास्तव में वे निराकार हैं। तो भी *ब्रह्म-संहिता* से हमें ज्ञात होता है कि ऐसा है नहीं, भगवान् के विविध रूप होते हैं। उसमें कहा गया है *अद्वैतम् अच्युतम्*। भगवान् भक्त की कल्पना के कारण भक्त के समक्ष प्रकट नहीं होते। *ब्रह्म-संहिता* यह भी बताती है कि भगवान् के अनेक रूप हैं— *रामादि-मूर्तिषु, कलानियमेन तिष्ठन्*। वे करोड़-करोड़ रूपों में विद्यमान हैं। जीवात्माओं की चौरासी लाख योनियाँ हैं, किन्तु परमेश्वर के अवतार अनन्त हैं। *भागवत* में कहा गया है कि जिस प्रकार समुद्र की तरंगें नहीं गिनी जा सकतीं, क्योंकि वे लगातार प्रकट और लुप्त होती रहती हैं, उसी प्रकार भगवान् के अवतार तथा रूप भी अनन्त हैं। भक्त किसी रूप विशेष के प्रति अनुरक्त होता है और वह इसी रूप को पूजता है। हम इस ब्रह्माण्ड में उनके आदि वराह रूप की चर्चा अभी अभी कर चुके हैं। ऐसे अनेक ब्रह्माण्ड हैं और इनमें से किसी एक में वराह रूप सम्प्रति विद्यमान होगा। भगवान् के समस्त रूप नित्य हैं। यह तो भक्त की रुचि पर निर्भर करता है कि वह भगवान् के किस रूप की पूजा करता है। रामायण के एक श्लोक में राम के परम भक्त हनुमान कहते हैं, “मैं जानता हूँ कि श्रीभगवान् के सीताराम तथा लक्ष्मीनारायण रूपों में कोई अन्तर नहीं है, तो भी मेरा अनुराग और प्रेम राम तथा सीता के रूप में घुल-मिल गया है। अतः मैं भगवान् के राम तथा सीता के ही रूप का दर्शन करना चाहता हूँ।” इसी प्रकार गौडीय वैष्णव राधा तथा कृष्ण और द्वारकावासी कृष्ण तथा रुक्मिणी रूपों से प्रेम करते हैं। *भक्तानाम् अनुरूपात्मदर्शनम्* शब्दों का अर्थ है कि भगवान् उसे उस विशेष रूप में दर्शन देते हैं जिस रूप में भक्त उनकी पूजा और सेवा करना चाहते हैं। इस श्लोक में बताया गया है कि ब्रह्माजी भगवान् हरि के पास पहुँचे। भगवान् का यह क्षीरोदकशायी विष्णु रूप है। जब कभी कोई संकट आता है और ब्रह्माजी को भगवान् के पास जाना पड़ता है, तो ब्रह्माजी, क्षीरोदकशायी विष्णु के पास ही पहुँच सकते हैं और यह भगवान् का अनुग्रह है कि जब भी ब्रह्माण्ड के उत्पातों के बारे में ब्रह्मा उनके पास

जाते हैं, वे अनेकानेक प्रकार से उनका संकट दूर करते हैं।

पाहि मां परमात्मंस्ते प्रेषणेनासृजं प्रजाः ।

ता इमा यभितुं पापा उपाक्रामन्ति मां प्रभो ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

पाहि—रक्षा कीजिये; माम्—मुझको; परम-आत्मन्—हे परमेश्वर; ते—तुम्हारी; प्रेषणेन—आज्ञा से; असृजम्—मैंने उत्पन्न किया; प्रजाः—समस्त जीव; ताः इमाः—वे ही; यभितुम्—संभोग की इच्छा से; पापाः—पापी जीव; उपाक्रामन्ति—पास आ रहे हैं; माम्—मेरे; प्रभो—हे भगवान्।

भगवान् के पास जाकर ब्रह्माजी ने उन्हें इस प्रकार सम्बोधित किया—हे भगवान्, इन पापी असुरों से मेरी रक्षा करें, जिन्हें आपकी आज्ञा से मैंने उत्पन्न किया था। ये विषय-वासना की भूख से क्रोधोन्माद में आकर मुझ पर आक्रमण करने आये हैं।

तात्पर्य : इस घटना से ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न असुरों की सृष्टि में पुरुषों के मध्य समलिंगी तृषा उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में, एक पुरुष द्वारा दूसरे पुरुष के लिए समलिंगी भूख आसुरी है और सामान्य जीवन में किसी भी बुद्धिमान मनुष्य के लिए उचित नहीं है।

त्वमेकः किल लोकानां क्लिष्टानां क्लेशनाशनः ।

त्वमेकः क्लेशदस्तेषामनासन्नपदां तव ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; एकः—अकेले; किल—निस्सन्देह; लोकानाम्—मनुष्यों के; क्लिष्टानाम्—क्लेशों से ग्रस्त; क्लेश—कष्ट; नाशनः—नाश करने के लिए; त्वम् एकः—तुम्हीं अकेले; क्लेश-दः—क्लेश देने वाले; तेषाम्—उन पर; अनासन्न—जो शरण नहीं लेते; पदाम्—पैरों की; तव—तुम्हारे।

हे भगवान्, केवल आप ही दुखियों के कष्ट दूर करने और आपके चरणों की शरण में न आने वालों को यातना देने में समर्थ हैं।

तात्पर्य : क्लेशदस्तेषामनासन्नपदां तव शब्द सूचित करते हैं कि भगवान् के दो काम हैं। प्रथम यह कि जो उनके चरणकमलों की शरण में आता है उसे सुरक्षा प्रदान करें और दूसरा यह कि जो आसुरी स्वभाव के हैं और भगवान् से वैर-भाव रखते हैं उन्हें कष्ट पहुँचाएं। माया का कार्य है अभक्तों को कष्ट पहुँचाना। यहाँ ब्रह्मा कहते हैं, “आप शरणागत जीवों के रक्षक हैं

अतः मैं आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण करता हूँ। कृपा करके इन असुरों से मेरी रक्षा करें।”

सोऽवधार्यास्य कार्पण्यं विविक्ताध्यात्मदर्शनः ।

विमुञ्चात्मतनुं घोरामित्युक्तो विमुमोच ह ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सः—परमेश्वर, हरि; अवधार्य—देखकर; अस्य—ब्रह्मा की; कार्पण्यम्—व्यथा; विविक्त—सन्देहरहित; अध्यात्म—अन्यों के मन; दर्शनः—जो देख सकता है; विमुञ्च—त्याग दो; आत्म-तनुम्—अपना शरीर; घोराम्—अपवित्र; इति उक्तः—इस प्रकार आदेशित होकर; विमुमोच ह—ब्रह्माजी ने छोड़ दिया।

सबों के मनों को स्पष्ट रूप से देख सकने वाले भगवान् ने ब्रह्मा की वेदना समझ ली और वे उनसे बोले, “तुम अपना यह अशुद्ध शरीर त्याग दो।” भगवान् से आदेश पाकर ब्रह्मा ने अपना शरीर त्याग दिया।

तात्पर्य : भगवान् को इस श्लोक में *विविक्ताध्यात्मदर्शनः* कहा गया है। यदि कोई पराये दुख को पूर्णरूपेण बिना सन्देह के देख सकता है, तो वह स्वयं भगवान् ही है। यदि कोई मनुष्य कष्ट में होता है और अपने मित्र से उसका निवारण चाहता है, तो ऐसा कभी कभी होता है कि मित्र उसके दुख की सघनता को नहीं समझ पाता, किन्तु भगवान् के लिए ऐसा कर पाना कठिन नहीं है। परमात्मा रूप में वह प्रत्येक जीवात्मा के शरीर में स्थित है और वह दुख के वास्तविक कारणों को प्रत्यक्ष देखता रहता है। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं *सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः*—मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति तथा विस्मृति उत्पन्न होती है। इस प्रकार जब कोई पूर्णतया भगवान् की शरण में चला जाता है, तो वह भगवान् को अपने हृदय में संस्थित पाता है। वे हमें संकट से उबरने अथवा अपनी भक्ति करने के उपाय के लिए आदेश दे सकते हैं। फिर भी भगवान् ने ब्रह्मा से अपना वर्तमान शरीर त्यागने के लिए कहा, क्योंकि उससे आसुरी तत्त्व उत्पन्न हुआ था। श्रीधर स्वामी के अनुसार ब्रह्मा के द्वारा निरन्तर शरीर त्याग यह सूचित नहीं करता कि वास्तव में वे अपना शरीर त्यागते हैं, वरन् वे यह सुझाव देते हैं कि ब्रह्मा ने एक विशेष प्रकार की मानसिकता का परित्याग किया। मन जीवात्मा का सूक्ष्म शरीर है। हम कभी ऐसे विचार में मग्न हो सकते हैं, जो पापमय हो, किन्तु यदि हम इस

पापमय विचार को त्याग दें तो यह कहा जा सकता है कि हम शरीर त्याग कर रहे हैं। जब ब्रह्मा ने असुरों को उत्पन्न किया, तो उनका मन ठिकाने पर नहीं था। हो सकता है कि वह काममय रहा हो, क्योंकि सारी सृष्टि कामुक थी। इसीलिए ऐसी कामुक सन्तानें उत्पन्न हुईं। इसका यह अर्थ हुआ कि माता-पिता को सन्तान उत्पन्न करते समय सतर्क रहना चाहिए। सन्तान की मानसिक अवस्था गर्भाधान के समय माता-पिता की मानसिक स्थिति पर निर्भर करती है। इसीलिए वैदिक पद्धति में सन्तानोत्पत्ति के लिए गर्भाधान संस्कार सम्पन्न किया जाता है। सन्तान उत्पन्न करने के पूर्व आतुर मन को शान्त करना आवश्यक है। जब माता-पिता भगवान् के पादपद्मों में अपने मन को रमाते हैं, तो ऐसी स्थिति में जो सन्तान उत्पन्न होती है, वह स्वभावतः भक्त बनती है और जब समाज ऐसे उत्तम लोगों से पूर्ण रहता है, तो आसुरी प्रवृत्तियों के कारण कोई कष्ट नहीं पहुँचता।

तां क्वणच्चरणाभोजां मदविह्वललोचनाम् ।

काञ्चीकलापविलसदुकूलच्छत्रोरोधसम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उस शरीर को; क्वणत्—नुपुर ध्वनि करता; चरण-अभोजाम्—चरणकमल वाली; मद—नशा; विह्वल—विभोर; लोचनाम्—आँखों वाली; काञ्ची-कलाप—स्वर्णाभरण से निर्मित करधनी वाली; विलसत्—चमकती; दुकूल—महीन वस्त्र से; छत्र—ढकी; रोधसम्—कटि वाली।

ब्रह्मा द्वारा परित्यक्त शरीर ने सन्ध्या का रूप धारण कर लिया जो काम को जगाने वाली दिन-रात की संधि वेला है। असुर जो स्वभाव से कामुक होते हैं और जिनमें रजोगुण का प्राधान्य होता है उसे सुन्दरी मान बैठे जिसके चरण-कमलों से नूपुरों की ध्वनि निकल रही थी, जिसके नेत्र मद से विस्तीर्ण थे और जिसका कटि भाग महीन वस्त्र से ढका था और जिस पर मेखला चमक रही थी।

तात्पर्य : जिस प्रकार प्रातःकाल आत्मचिन्तन की वेला है उसी प्रकार संध्या काम (विषय वासना) की वेला है। आसुरी पुरुष प्रायः विषय-सुख के लिए लालायित रहते हैं, अतः संध्या का आना उन्हें प्रीतिकर लगता है। संध्या आगमन को असुरगण ने एक सुन्दरी स्त्री मान लिया और वे उसे कई प्रकार से चाहने लगे। उन्होंने उस संध्या को एक सुन्दरी मान लिया जिसके

पाँव के नूपुर से रुनझुन हो रही थी, जिसके कटि प्रदेश में मेखली थी, सुन्दर-सुन्दर उरोज थे और अपनी कामतुष्टि के लिए उन्हें इस सुन्दरी बाला को अपने समक्ष प्रकट होने का आयास हुआ।

अन्योन्यश्लेषयोत्तुङ्गनिरन्तरपयोधराम् ।
सुनासां सुद्विजां स्निग्धहासलीलावलोकनाम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अन्योन्य—परस्पर; श्लेषया—चिपकने से; उत्तुङ्ग—उठे हुए; निरन्तर—अन्तर हीन (सटे); पयः—धराम्—स्तन; सु-नासाम्—सुन्दर नाक; सु-द्विजाम्—सुन्दर दाँत; स्निग्ध—आकर्षक; हास—हँसी; लीला-अवलोकनाम्—विलासमयी चितवन।

एक दूसरे से सटे होने के कारण उसके स्तन ऊपर उठे हुए थे और उनके बीच में कोई रिक्त स्थान बचा न था। उसकी नाक तथा दाँतों की बनावट सुन्दर थी; उसके होठों पर आकर्षक हँसी नाच रही थी और वह असुरों को क्रीड़ापूर्ण चितवन से देख रही थी।

गूहन्तीं व्रीडयात्मानं नीलालकवरूथिनीम् ।
उपलभ्यासुरा धर्म सर्वे सम्मुमुहुः स्त्रियम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

गूहन्तीम्—छिपाते हुए; व्रीडया—लज्जावश; आत्मानम्—अपने आपको; नील—काले; अलक—बाल; वरूथिनीम्—गुच्छा; उपलभ्य—कल्पना करके; असुराः—असुरगण; धर्म—हे विदुर; सर्वे—सभी; सम्मुमुहुः—मोहित हो गये; स्त्रियम्—स्त्री को।

काले-काले बालसमूह से विभूषित वह मानो लज्जावश अपने को छिपा रही थी। उस बाला को देखकर सभी असुर विषय-वासना की भूख से मोहित हो गये।

तात्पर्य : असुरों तथा देवताओं में यही अन्तर है कि सुन्दर स्त्री असुरों के मन को आकृष्ट कर लेती है, किन्तु वह दैव-पुरुषों के मन को आकृष्ट नहीं कर पाती। दैव-पुरुष ज्ञान से पूर्ण होता है जब कि असुर अविद्या से। जिस प्रकार कोई शिशु किसी सुन्दर गुड़िया के द्वारा आकृष्ट हो उठता है उसी प्रकार से एक असुर कम बुद्धिमान होने तथा अविद्या से पूर्ण होने के कारण भौतिक सुन्दरता से तथा विषय-भोग की भूख से आकृष्ट होता है। दैव-पुरुष जानता है कि सुघड़ वेशभूषा और उन्नत उरोज, उठे नितम्ब, सुन्दर नासिका तथा सुन्दर रूप-रंग का यह

आकर्षण माया है। स्त्री में प्रदर्शित होने वाली सारी सुन्दरता रक्त तथा मांस के संयोग से बनी है। श्रीशंकराचार्य ने ऐसे समस्त पुरुषों को रक्त तथा मांस के इस संयोग के प्रति नहीं वरन् आध्यात्मिक-जीवन के वास्तविक सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होने का उपदेश दिया है। वास्तविक सौन्दर्य तो कृष्ण तथा राधा हैं। जो मनुष्य इनके सौन्दर्य से आकृष्ट हो चुका है, वह भौतिक जगत के मिथ्या सौन्दर्य से आकृष्ट नहीं हो सकता। एक असुर तथा दैव पुरुष अथवा भक्त में यही अन्तर होता है।

अहो रूपमहो धैर्यमहो अस्या नवं वयः ।

मध्ये कामयमानानामकामेव विसर्पति ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; रूपम्—कैसा सौन्दर्य; अहो—ओह; धैर्यम्—कैसा धैर्य (संयम); अहो—ओह; अस्याः—इसका; नवम्—उभरता हुआ; वयः—यौवन; मध्ये—बीच में; कामयमानानाम्—कामियों के; अकामा—कामरहित; इव—सदृश; विसर्पति—साथ टहल रही है।

असुरों ने उसकी प्रशंसा की—अहा! कैसा रूप, कैसा अप्रतिम धैर्य, कैसा उभरता यौवन, हम कामपीड़ितों के बीच वह इस प्रकार विचर रही है मानो काम-भाव से सर्वथा रहित हो।

वितर्कयन्तो बहुधा तां सन्ध्यां प्रमदाकृतिम् ।

अभिसम्भाव्य विश्रम्भात्पर्यपृच्छन्कुमेधसः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

वितर्कयन्तः—तर्क-वितर्क करते हुए; बहुधा—अनेक प्रकार से; ताम्—उस; सन्ध्याम्—संध्या वेला को; प्रमदा—तरुणी स्त्री; आकृतिम्—के रूप में; अभिसम्भाव्य—सम्मानपूर्वक; विश्रम्भात्—प्यार से; पर्यपृच्छन्—पूछी जाकर; कु-मेधसः—दुष्ट बुद्धि वाले।

तरुणी स्त्री के रूप में प्रतीत होने वाली संध्या के विषय में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क करते हुए दुष्ट-बुद्धि असुरों ने उसका अत्यन्त आदर किया और उससे प्रेमपूर्वक इस प्रकार बोले।

कासि कस्यासि रम्भोरु को वार्थस्तेऽत्र भामिनि ।

रूपद्रविणपण्येन दुर्भगान्नो विबाधसे ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

का—कौन; असि—हो; कस्य—किसकी; असि—हो; रम्भोरु—हे सुन्दरी; कः—क्या; वा—अथवा; अर्थः—प्रयोजन; ते—तुम्हारा; अत्र—यहाँ; भामिनि—हे कामिनी; रूप—सौन्दर्य; द्रविण—अमूल्य; पण्येन—सामग्री से; दुर्भागान्—अभागे; नः—हमें; विबाधसे—तरसा रही हो।

हे सुन्दरी बाला, तुम कौन हो? तुम किसकी पत्नी या पुत्री हो और तुम हम सबों के समक्ष किस प्रयोजन से प्रकट हुई हो? हम अभागों को तुम अपने सौन्दर्य रूपी अमूल्य सामग्री से क्यों तरसा रही हो?

तात्पर्य : यहाँ पर भौतिक जगत के मिथ्या सौन्दर्य के प्रति असुरों का आकर्षण दिखाया गया है। असुर लोग इस संसार में त्वचा-सौन्दर्य के लिए कोई भी मूल्य चुका सकते हैं। वे अहर्निश कठोर श्रम करते हैं, किन्तु इस कठिन श्रम का प्रयोजन विषयी जीवन का आनन्द उठाना है। कभी-कभी वे योग का अर्थ न जानते हुए अपने आपको कर्मयोगी बतलाते हैं। योग का अर्थ है पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साथ अपने को जोड़ना अथवा कृष्णभावनामृत के लिए कर्म करना। ऐसा मनुष्य, जो कठोर श्रम करता है, वह चाहे जिस उद्यम में हो तथा ऐसा मनुष्य जो अपने कर्म के फल को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में अर्पित कर देता है, कर्मयोगी कहलाता है।

या वा काचित्त्वमबले दिष्ट्या सन्दर्शनं तव ।

उत्सुनोषीक्षमाणानां कन्दुकक्रीडया मनः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

या—जो कोई भी; वा—अथवा; काचित्—कोई; त्वम्—तुम; अबले—हे सुन्दरी बाला; दिष्ट्या—भाग्यवश; सन्दर्शनम्—दर्शन पाकर; तव—तुम्हारा; उत्सुनोषि—विचलित करती हो; ईक्षमाणानाम्—देखने वालों के; कन्दुक—गेंद के साथ; क्रीडया—खेल से; मनः—मन।

हे सुन्दरी बाला, तुम चाहे जो भी हो, हम भाग्यशाली हैं कि तुम्हारा दर्शन कर रहे हैं। तुमने गेंद के अपने खेल से हम दर्शकों के मन को विचलित कर दिया है।

तात्पर्य : असुर लोग सुन्दरी स्त्री की सुन्दरता को देखने के लिए नाना प्रकार के आयोजन करते हैं। यहाँ यह बताया गया है कि उन्होंने गेंद खेलती हुई तरुणी को देखा। कभी-कभी आसुरी लोग टेनिस जैसे खेलों का आयोजन विपरीत लिंगी (स्त्रियों) के साथ करते हैं। ऐसे आयोजनों का उद्देश्य सुन्दरी बाला के शारीरिक सौन्दर्य का अवलोकन तथा सूक्ष्म कामभाव का

आनन्द उठाना है। ऐसी आसुरी काम-प्रवृत्ति को कभी-कभी तथाकथित योगी भी बढ़ावा देते हैं, जो जनता को विभिन्न प्रकार से विषयी जीवन व्यतीत करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं और विज्ञापित करते हैं कि यदि कोई उनके द्वारा तैयार किए मन्त्र का ध्यान करेगा तो वह छह महीनों में ईश्वर बन सकता है। जनता चाहती है कि लोग उन्हें ठगें इसलिए श्रीकृष्ण ऐसे वंचकों को उत्पन्न करते हैं, जो ढोंग करते हैं और ठगते हैं। ये तथाकथित योगी योगियों के वेष में संसार के भोगी हैं। किन्तु भगवद्गीता की संस्तुति है कि यदि कोई जीवन का सुख उठाना चाहता है, तो वह इन स्थूल इन्द्रियों से नहीं उठा सकता। रोगी व्यक्ति को अनुभवी डाक्टर सलाह देता है कि रुग्णावस्था में सामान्य भोग से विलग रहे। रोगी प्रत्येक वस्तु का भोग नहीं कर सकता; रोग से बचने के लिए उसे भोग से दूर रहना होता है। इसी प्रकार हमारी भौतिक अवस्था रोगी जैसी है। यदि कोई सचमुच इन्द्रिय-सुख चाहता है, तो उसे इस संसार के बन्धन से मुक्त होना होगा। आत्मिक जीवन में हम अनन्त इन्द्रिय-सुख उठा सकते हैं। भौतिक तथा सात्त्विक (आत्मिक) सुख में यही अन्तर होता है कि भौतिक सुख सीमित है। यदि कोई भौतिक काम वासना के सुख में लिप्त रहना चाहे तो वह दीर्घकाल तक सुख नहीं भोग सकता। किन्तु काम-सुख त्याग देने पर आत्मिक जीवन का शुभारम्भ होता है और यह असीम होता है। भागवत (५.५.१) में कहा गया है कि ब्रह्मसौख्य अर्थात् आत्मिक सुख अनन्त है। मूर्ख प्राणी ही पदार्थ के सौन्दर्य पर रीझते हैं और इससे मिलने वाले सुख को सत्य मान बैठते हैं किन्तु वह वास्तविक आनन्द होता नहीं।

नैकत्र ते जयति शालिनि पादपद्मं

घ्नन्त्या मुहुः करतलेन पतत्पतङ्गम् ।

मध्यं विषीदति बृहत्स्तनभारभीतं

शान्तेव दृष्टिरमला सुशिखासमूहः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एकत्र—एक स्थान पर; ते—तुम्हारा; जयति—ठहरता है; शालिनि—हे सुन्दर स्त्री; पाद-पद्मम्—चरणकमल; घ्नन्त्या—मार कर; मुहुः—पुनः पुनः; कर-तलेन—हथेली से; पतत्—उछालती; पतङ्गम्—गेंद को; मध्यम्—कटि; विषीदति—थक जाती है; बृहत्—पूर्ण विकसित; स्तन—तुम्हारे स्तनों के; भार—बोझ से; भीतम्—

दुखित; शान्ता इव—मानो थकित; दृष्टिः—दृष्टि; अमला—स्वच्छ; सु—सुन्दर; शिखा—तुम्हारी चोटी; समूहः—गुच्छ।

हे सुन्दरी, जब तुम धरती से उछलती गेंद को अपने हाथों से बार-बार मारती हो तो तुम्हारे चरण-कमल एक स्थान पर नहीं रुके रहते। तुम्हारे पूर्ण विकसित स्तनों के भार से पीड़ित तुम्हारी कमर थक जाती है और स्वच्छ दृष्टि मन्द पड़ जाती है। कृपया अपने सुन्दर बालों को ठीक से गूँथ तो लो।

तात्पर्य : असुरों को उस सुन्दरी के प्रत्येक पग पर सुन्दर हाव-भाव दिख रहे थे। यहाँ पर वे गेंद खेलते समय उसके पूरी तरह उभरे उरोजों, बिखरे बालों तथा आगे-पीछे झुकने की गतियों की प्रशंसा करते हैं। वे पद-पद पर उसके खिद्योचित सौन्दर्य का आनंद लेते हैं और इस प्रकार आनन्द लेते हुए उनके मन कामवासना से उद्विग्न हो उठते हैं। जिस प्रकार रात्रि में अग्नि के चारों ओर पतंगे एकत्र होते और फिर मर जाते हैं उसी प्रकार से असुर सुन्दरी के कन्दुक सदृश स्तनों की हलचल के शिकार हो जाते हैं। सुन्दरी की बिखरी केश-राशि भी कामी असुरों के मन को आहत करती है।

इति सायन्तनीं सन्ध्यामसुराः प्रमदायतीम् ।

प्रलोभयन्तीं जगृह्मत्वा मूढधियः स्त्रियम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार से; सायन्तनीम्—सायंकाल; सन्ध्याम्—सन्ध्या का प्रकाश; असुराः—असुरगण; प्रमदायतीम्—गर्विली स्त्री की भाँति आचरण करती; प्रलोभयन्तीम्—लुभाती हुई; जगृह्मः—पकड़ लिया; मत्वा—मानकर; मूढ-धियः—मूर्ख; स्त्रियम्—स्त्री को।

जिनकी बुद्धि पर पर्दा पड़ चुका है, ऐसे असुरों ने सन्ध्या को हावभाव करने वाली आकर्षक सुन्दरी मानकर उसको पकड़ लिया।

तात्पर्य : असुरों को मूढ-धियः कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे गधों की तरह जड़तावश मोहित हो गये। असुर लोग मिथ्या, भौतिक रूप की प्रदीप्त सुन्दरता पर मोहित हो गये और उसका आलिंगन करने लगे।

प्रहस्य भावगम्भीरं जिघ्रन्त्यात्मानमात्मना ।

कान्त्या ससर्ज भगवान्गन्धर्वाप्सरसां गणान् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

प्रहस्य—हँस कर; भाव-गम्भीरम्—गम्भीर प्रयोजन से; जिघ्रन्त्या—समझकर; आत्मानम्—स्वयं को; आत्मना—अपने आप से; कान्त्या—अपनी कान्ति से; ससर्ज—उत्पन्न किया; भगवान्—पूज्य भगवान् ब्रह्मा; गन्धर्व—नैसर्गिक गायक; अप्सरसाम्—तथा स्वर्ग की नर्तकियाँ; गणान्—समूह।

तब गम्भीर भावपूर्ण हँसी हँसते हुए पूज्य ब्रह्मा ने अपनी कान्ति से, जो अपने सौन्दर्य का मानो आप ही आस्वादन करती थी, गन्धर्वों व अप्सराओं के समूह को उत्पन्न किया।

तात्पर्य : स्वर्गलोक के गायक गंधर्व कहलाते हैं और नर्तकियाँ अप्सराएँ। असुरों द्वारा आक्रमण किये जाने पर ब्रह्मा ने पहले संध्या समय एक सुन्दर स्त्री का रूप उत्पन्न किया और फिर गन्धर्व तथा अप्सराएँ उत्पन्न कीं। जब इन्द्रिय-तृप्ति के लिए गायन तथा वादन का प्रयोग होता है, तो वह आसुरी होता है किन्तु वही गायन-वादन जब कीर्तन के रूप में भगवान् की स्तुति के लिए प्रयुक्त होता है, तो वह दिव्य होता है और उससे ऐसा जीवन उत्पन्न होता है, जो सर्वथा आत्मसुख के योग्य है।

विससर्ज तनुं तां वै ज्योत्स्नां कान्तिमतीं प्रियाम् ।

त एव चाददुः प्रीत्या विश्वावसुपुरोगमाः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

विससर्ज—त्याग दिया; तनुम्—रूप को; ताम्—उस; वै—निस्सन्देह; ज्योत्स्नाम्—चाँदनी; कान्ति-मतीम्—चमकती हुई; प्रियाम्—प्रिया; ते—गन्धर्व; एव—निश्चय ही; च—तथा; आददुः—अपना लिया; प्रीत्या—प्रसन्नतापूर्वक; विश्वावसु-पुरः-गमाः—विश्वावसु जिनका अग्रणी था।

तत्पश्चात् ब्रह्मा ने वह चाँदनी सा दीप्तिमान तथा सुन्दर रूप त्याग दिया और विश्वावसु तथा अन्य गन्धर्वों ने प्रसन्नतापूर्वक उसे अपना लिया।

सृष्ट्वा भूतपिशाचांश्च भगवानात्मतन्त्रिणा ।

दिग्वाससो मुक्तकेशान्वीक्ष्य चामीलयदृशौ ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सृष्ट्वा—उत्पन्न करके; भूत—भूत-प्रेत; पिशाचान्—पिशाचों को; च—तथा; भगवान्—ब्रह्माजी ने; आत्म—अपने; तन्त्रिणा—आलस्य से; दिक्-वाससः—नग्न; मुक्त—बिखरे; केशान्—बालों को; वीक्ष्य—देखकर; च—तथा; अमीलयत्—बन्द किया; दृशौ—दोनों नेत्र।

तब पूज्य ब्रह्मा ने अपनी तन्द्रा से भूतों तथा पिशाचों को उत्पन्न किया, किन्तु जब उन्हें नग्न एवं बिखरे बाल वाले देखा तो उन्होंने अपनी आँखें बन्द कर लीं।

तात्पर्य : भूत तथा प्रेत भी ब्रह्मा की सृष्टि हैं, वे अवास्तविक नहीं हैं। ये सब बद्धजीव को नाना प्रकार के कष्टों में डालने के साधन हैं। इनकी सृष्टि परमेश्वर के आदेश से ब्रह्मा द्वारा की गई समझी जाती है।

जगृहुस्तद्विसृष्टां तां जृम्भणाख्यां तनुं प्रभोः
निद्रामिन्द्रियविकलेदो यया भूतेषु दृश्यते ।
येनोच्छिष्टान्धर्षयन्ति तमुन्मादं प्रचक्षते ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

जगृहुः—अपना लिया; तत्-विसृष्टाम्—उसके द्वारा फेंका गया; ताम्—उस; जृम्भण-आख्याम्—जम्हाई लेता हुआ; तनुम्—शरीर को; प्रभोः—भगवान् ब्रह्मा का; निद्राम्—नींद; इन्द्रिय-विकलेदः—लार चुआता; यया—जिससे; भूतेषु—जीवों के मध्य; दृश्यते—देखा जाता है; येन—जिससे; उच्छिष्टान्—मलमूत्र से सना; धर्षयन्ति—आक्रमण करते हैं; तम्—उसे; उन्मादम्—पागलपन; प्रचक्षते—कहा जाता है।

जीवों के स्रष्टा ब्रह्मा द्वारा उस अँगड़ाई रूप में फेंके जाने वाले शरीर को भूत-पिशाचों ने उस शरीर को अपना लिया। इसी को निद्रा भी कहते हैं जिसमें लार चू जाती है। जो लोग अशुद्ध रहते हैं उन पर ये भूत-प्रेत आक्रमण करते हैं और उनका यह आक्रमण उन्माद (पागलपन) कहलाता है।

तात्पर्य : अशुद्ध रहने पर उन्माद रोग या भूतों का आक्रमण होता है। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि जब मनुष्य गहरी निद्रा में सो जाता है, तो उसके मुख से जो थूक बहता है उससे वह अशुद्ध (गन्दा) हो जाता है और इस अवसर का लाभ उठाकर भूत-प्रेत उस पर आक्रमण कर देते हैं। दूसरे शब्दों में, जो सोते समय लार चुवाते हैं, वे गन्दे माने जाते हैं और उन्हें या तो भूत सताते हैं या वे पागल हो जाते हैं।

ऊर्जस्वन्तं मन्यमान आत्मानं भगवानजः ।
साध्यान्गणान्पितृगणान्यरोक्षेणासृजत्प्रभुः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

ऊर्जः-वन्तम्—शक्ति से परिपूर्ण; मन्यमानः—मानकर; आत्मानम्—अपने आप को; भगवान्—परमपूज्य; अजः—ब्रह्मा ने; साध्यान्—देवता; गणान्—समूह; पितृ-गणान्—तथा पितर; परोक्षेण—अदृश्य होकर; असृजत्—उत्पन्न किया; प्रभुः—जीवों के स्वामी।

जीवात्माओं के स्रष्टा, पूज्य ब्रह्मा ने अपने आपको इच्छा तथा शक्ति से पूर्ण मानकर

अपने अदृश्य रूप, अपनी नाभि, से साध्यों तथा पितरों के समूह को उत्पन्न किया।

तात्पर्य : साध्य तथा पितरगण दिवंगत आत्माओं के अदृश्य रूप हैं। ये भी ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न हैं।

त आत्मसर्गं तं कायं पितरः प्रतिपेदिरे ।

साध्येभ्यश्च पितृभ्यश्च कवयो यद्वितन्वते ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; आत्म-सर्गम्—उनके अस्तित्व का स्रोत; तम्—उस; कायम्—शरीर को; पितरः—पितृगण ने; प्रतिपेदिरे—स्वीकार कर लिया; साध्येभ्यः—साध्यों के लिए; च—तथा; पितृभ्यः—पितरों को; च—भी; कवयः—कर्मकाण्ड में पटु; यत्—जिससे; वितन्वते—पिण्डदान करते हैं।

पितृगण ने अपने अस्तित्व के स्रोत उस अदृश्य शरीर को स्वयं धारण कर लिया। इस अदृश्य शरीर के माध्यम से ही श्राद्ध के अवसर पर कर्मकाण्ड में पटु लोग साध्यों तथा पितरों (दिवंगत पूर्वजों के रूप में) को पिण्डदान करते हैं।

तात्पर्य : श्राद्ध एक कर्मकाण्ड है, जिसे वेदों के अनुयायी मानते हैं। प्रतिवर्ष पन्द्रह दिनों (एक पक्ष) का एक अवसर आता है जब कर्मकाण्डी धार्मिक लोग दिवंगत आत्माओं को भेंटें, प्रदान करने के नियम का पालन करते हैं। अतः वे पितृगण तथा पूर्वज जो किन्हीं कारणों से भौतिक सुख भोगने के लिए स्थूल शरीर धारण नहीं कर सके, अपने उत्तराधिकारियों द्वारा प्रदत्त श्राद्ध पिण्डदान से पुनः ऐसे शरीर प्राप्त कर सकें। श्राद्ध कर्म अथवा प्रसाद समेत पिण्डदान की प्रथा अब भी भारत में, विशिष्ट रूप से गया में, प्रचलित है जहाँ एक प्रसिद्ध मन्दिर में विष्णु के चरणकमलों पर हवि चढ़ाई जाती है। चूँकि इस प्रकार उत्तराधिकारियों की सेवा से भगवान् प्रसन्न होते हैं, अतः पितरों की उन पतित आत्माओं को जिन्हें स्थूल शरीर नहीं मिला, वे मुक्त कर देते हैं और पुनः शरीर धारण करके आत्मोन्नति करने के लिए उन पर अनुग्रह करते हैं।

दुर्भाग्यवश माया के वशीभूत होकर बद्धजीव अपने इस प्रकार प्राप्त शरीर का उपयोग इन्द्रियतृप्ति के लिए करता है और वह यह भूल जाता है कि ऐसे कर्म से उसे पुनः अदृश्य शरीर धारण करना पड़ सकता है। भगवान् के भक्त अथवा कृष्ण-भावनाभावित मनुष्य को

श्राद्ध जैसे अनुष्ठान नहीं करने पड़ते क्योंकि वह परमेश्वर को निरन्तर प्रसन्न करता रहता है, फलतः उसके संकटग्रस्त पितृगण तथा पूर्वज, स्वतः मुक्त हो जाते हैं। इसके ज्वलन्त उदाहरण प्रह्लाद महाराज हैं। प्रह्लाद महाराज ने भगवान् नृसिंहदेव से प्रार्थना की कि वे उनके पापी पिता का, जिसने भगवान् के चरणों पर कई बार अपराध किया था, उद्धार करें। इस पर भगवान् ने उत्तर दिया कि जिस वैष्णव परिवार में प्रह्लाद जैसा पुत्र उत्पन्न होता है उसमें न केवल उसका पिता तथा पिता का पिता बल्कि इस प्रकार चौदह पीढ़ियाँ स्वतः तर जाती हैं। अतः निष्कर्ष यह निकला कि परिवार, समाज तथा समस्त जीवात्माओं के लिए सबसे उत्तम कार्य कृष्णभावनामृत है। श्रीचैतन्य-चरितामृत के रचयिता का कथन है कि कृष्णभावनामृत में पटु व्यक्ति कोई भी अनुष्ठान नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि पूर्ण कृष्णभावनामृत में श्रीकृष्ण की सेवा करने से सभी अनुष्ठान स्वतः सम्पन्न हो जाते हैं।

सिद्धान्विद्याधरांश्चैव तिरोधानेन सोऽसृजत् ।

तेभ्योऽददात्तमात्मानमन्तर्धानाख्यमद्भुतम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

सिद्धान्—सिद्धों को; विद्याधरान्—विद्याधरों को; च एव—तथा भी; तिरोधानेन—अदृश्य रहने के कारण; सः—ब्रह्मा ने; असृजत्—उत्पन्न किया; तेभ्यः—उनको; अददात्—दिया; तम् आत्मानम्—अपना वह रूप; अन्तर्धान-आख्यम्—अन्तर्धान नाम से ज्ञात; अद्भुतम्—विचित्र।

तब दृष्टि से अदृश्य रहने की अपनी क्षमता के कारण ब्रह्माजी ने सिद्धों तथा विद्याधरों को उत्पन्न किया और उन्हें अपना अन्तर्धान नामक विचित्र रूप प्रदान किया।

तात्पर्य : अन्तर्धान का अर्थ होता है कि ये जीवित प्राणियों के विद्यमान होने का मान तो होता है, किन्तु दृष्टि से दिखाई नहीं पड़ते।

स किन्नरान्किम्पुरुषान्प्रत्यात्म्येनासृजत्प्रभुः ।

मानयन्नात्मनात्मानमात्माभासं विलोकयन् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सः—ब्रह्मा ने; किन्नरान्—किन्नरों को; किम्पुरुषान्—किम्पुरुषों को; प्रत्यात्म्येन—अपने प्रतिबिम्ब (जल में) से; असृजत्—उत्पन्न किया; प्रभुः—जीवों के स्वामी (ब्रह्मा); मानयन्—प्रशंसा करते हुए; आत्मना आत्मानम्—अपने से अपने को; आत्म-आभासम्—अपना प्रतिबिम्ब; विलोकयन्—देखते हुए।

एक दिन समस्त जीवात्माओं के सर्जक ब्रह्मा ने जल में अपनी परछाईं देखी और आत्मप्रशंसा करते हुए उन्होंने उस प्रतिबिम्ब (परछाईं) से किन्नरों तथा किम्पुरुषों की सृष्टि की।

ते तु तज्जगृहू रूपं त्यक्तं यत्परमेष्ठिना ।
मिथुनीभूय गायन्तस्तमेवोषसि कर्मभिः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

ते—उन्होंने (किन्नर तथा किम्पुरुष); तु—लेकिन; तत्—वह; जगृहूः—अपना लिया; रूपम्—उस छाया रूप को; त्यक्तम्—परित्यक्त; यत्—जो; परमेष्ठिना—ब्रह्मा द्वारा; मिथुनी-भूय—पत्नियों सहित; गायन्तः—स्तुति; तम्—उसको; एव—केवल; उषसि—उषाकाल में; कर्मभिः—अपने कर्म के द्वारा।

किम्पुरुषों तथा किन्नरों ने ब्रह्मा द्वारा त्यक्त उस छाया-शरीर को ग्रहण कर लिया इसीलिए वे अपनी पत्नियों सहित प्रत्येक प्रातःकाल उनके कर्म का स्मरण कर करके उनकी प्रशंसा का गान करते हैं।

तात्पर्य : सूर्योदय के डेढ़ घंटे पहले प्रातःकाल को ब्राह्म-मुहूर्त कहा जाता है। इस ब्राह्म-मुहूर्त में आध्यात्मिक कर्म किये जाते हैं। इस वेला (काल) में सम्पन्न क्रियाएँ दिन के अन्य भाग में सम्पन्न क्रियाओं से अधिक प्रभावात्मक होती हैं।

देहेन वै भोगवता शयानो बहुचिन्तया ।
सर्गेऽनुपचिते क्रोधादुत्ससर्ज ह तद्वपुः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

देहेन—शरीर से; वै—निस्सन्देह; भोगवता—पूरा फैलाकर; शयानः—शयन करते हुए; बहु—अधिक; चिन्तया—चिन्ता से; सर्गे—सृष्टि; अनुपचिते—बढ़ती न देखकर; क्रोधात्—क्रोधवश; उत्ससर्ज—त्याग दिया; ह—निस्सन्देह; तत्—वह; वपुः—शरीर।

एक बार ब्रह्माजी अपने शरीर को पूरी तरह फैलाकर लेटे थे। वे अत्यधिक चिन्तित थे कि उनकी सृष्टि का कार्य आगे नहीं बढ़ रहा है, अतः उन्होंने रोष में आकर उस शरीर को भी त्याग दिया।

येऽहीयन्तामुतः केशा अहयस्तेऽङ्ग जज्ञिरे ।
सर्पाः प्रसर्पतः क्रूरा नागा भोगोरुकन्धराः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; अहीयन्त—गिर गये; अमृतः—उससे; केशाः—बाल; अहयः—सर्प; ते—वे; अङ्ग—हे विदुर; जज्ञिरे—के रूप में जन्म लिया; सर्पाः—साँप; प्रसर्पतः—रेंगने वाले शरीर से; क्रूराः—ईर्ष्यालु; नागाः—काले साँप; भोग—फनों से; उरु—विशाल; कन्धराः—जिनके कंधे।

हे विदुर, उस शरीर से जो बाल गिरे वे सर्पों में परिणत हो गये। उनके हाथ-पैर सिकोड़ कर चलने से उस शरीर से क्रूर सर्प तथा नाग उत्पन्न हुए जिनके फन फैले हुए होते हैं।

स आत्मानं मन्यमानः कृतकृत्यमिवात्मभूः ।

तदा मनुससर्जान्ते मनसा लोकभावनाम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सः—ब्रह्मा ने; आत्मानम्—अपने आपको; मन्यमानः—मानकर; कृत-कृत्यम्—जीवन उद्देश्य को प्राप्त, धन्य; इव—मानो; आत्मभूः—परमेश्वर से उत्पन्न; तदा—तब; मनुन्—सभी मनुओं को; ससर्ज—उत्पन्न किया; अन्ते—अन्त में; मनसा—अपने मन से; लोक—संसार का; भावनाम्—कल्याणकारी।

एक दिन स्वयंजन्मा प्रथम जीवात्मा ब्रह्मा ने अनुभव किया कि उन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य प्राप्त कर लिया है। उस समय उन्होंने अपने मन से मनुओं को उत्पन्न किया, जो ब्रह्माण्ड के कल्याण-कार्यों की वृद्धि करने वाले हैं।

तेभ्यः सोऽसृजत्स्वीयं पुरं पुरुषमात्मवान् ।

तान्दृष्ट्वा ये पुरा सृष्टाः प्रशशंसुः प्रजापतिम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

तेभ्यः—उनके लिए; सः—ब्रह्मा ने; असृजत्—प्रदान किया; स्वीयम्—निज; पुरम्—शरीर; पुरुषम्—मनुष्य का; आत्म-वान्—स्व-युक्त; तान्—उनको; दृष्ट्वा—देखकर; ये—जो; पुरा—इससे पूर्व; सृष्टाः—रचे गये (देव, गंधर्व आदि, जिनकी सृष्टि पहले हो चुकी थी); प्रशशंसुः—बड़ाई की; प्रजापतिम्—ब्रह्मा (उत्पन्न जीवों के स्वामी) की।

आत्मवान् स्रष्टा ने उन्हें अपना मानवी रूप दे दिया। मनुओं को देखकर, उनसे पूर्व उत्पन्न देवता, गन्धर्व आदि ब्रह्माण्ड के स्वामी ब्रह्मा की स्तुति करने लगे।

अहो एतज्जगत्स्रष्टः सुकृतं बत ते कृतम् ।

प्रतिष्ठिताः क्रिया यस्मिन्साकमन्नमदाम हे ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; एतत्—यह; जगत्-स्रष्टा:—हे ब्रह्माण्ड के स्रष्टा; सुकृतम्—अच्छा किया; बत—निस्सन्देह; ते—तुम्हारे द्वारा; कृतम्—उत्पन्न; प्रतिष्ठिता:—भलीभाँति स्थापित; क्रिया:—समस्त विधि-विधान; यस्मिन्—जिसमें; साकम्—इसके साथ साथ; अन्नम्—यज्ञ की आहुति, हव्य; अदाम—अपना अपना भाग लेंगे; हे—हे!.

उन्होंने स्तुति की—हे ब्रह्माण्ड के स्रष्टा, हम प्रसन्न हैं, आपने जो भी सृष्टि की है, वह सुन्दर है। चूँकि इस मानवी रूप में अनुष्ठान-कार्य पूर्णतया स्थापित हो चुके हैं, अतः हम हवि में साझा कर लेंगे।

तात्पर्य : भगवद्गीता (३.१०) में भी यज्ञ की महत्ता का उल्लेख हुआ है। भगवान् पुष्टि करते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा ने मनुओं को यज्ञ सम्बन्धी अनुष्ठान-विधि के सहित उत्पन्न किया और उन्हें यह आशीर्वाद दिया, “इन याज्ञिक कर्मों को करते रहो। धीरे-धीरे तुम्हें आत्म-साक्षात्कार का उचित पद प्राप्त होगा और तुम भौतिक सुख भी भोग सकोगे।” ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न समस्त जीवात्माएँ बद्धजीव हैं, जो भौतिक प्रकृति को वश में करना चाहते हैं। याज्ञिक अनुष्ठानों का उद्देश्य क्रमशः जीवात्माओं में आत्म-साक्षात्कार को पुनरुज्जीवित करना है। वही इस ब्रह्माण्ड में जीवन का शुभारम्भ है। किन्तु याज्ञिक अनुष्ठानों का उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न रखना है। जब तक मनुष्य भगवान् को प्रसन्न नहीं कर लेता अथवा कृष्णभावनाभावित नहीं हो जाता तब तक वह न ही भौतिक सुख से अथवा न ही आत्मबोध से सुखी रह सकता है।

तपसा विद्यया युक्तो योगेन सुसमाधिना ।

ऋषीन् ऋषिर्हृषीकेशः ससर्जाभिमताः प्रजाः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

तपसा—तप से; विद्यया—पूजा से; युक्तः—संलग्न होकर; योगेन—भक्ति में मन को एकाग्र करके; सु-समाधिना—सुन्दर चिन्तन से; ऋषीन्—ऋषियों में; ऋषिः—प्रथम दूत (ब्रह्मा); हृषीकेशः—इन्द्रियों को वश में करने वाला; ससर्ज—उत्पन्न किया; अभिमताः—प्रिय; प्रजाः—पुत्र।

फिर आत्म-भू जीवित प्राणी ब्रह्मा ने अपने आपको कठोर तप, पूजा, मानसिक एकाग्रता तथा भक्ति-तल्लीनता से सुसज्जित करके एवं निष्काम भाव से अपनी इन्द्रियों को वश में करते हुए महर्षियों को अपने पुत्रों (प्रजा) के रूप में उत्पन्न किया।

तात्पर्य : यज्ञ के सारे अनुष्ठान भौतिक आर्थिक उन्नति के लिए हैं अर्थात् वे शरीर को

आत्मज्ञान के अनुशीलन हेतु सक्षम बनाये रखने के लिए हैं। किन्तु वास्तविक आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए अन्य योग्यताओं की आवश्यकता पड़ती है। इनमें विद्या अथवा परमेश्वर की पूजा अनिवार्य है। कभी-कभी योग शब्द का व्यवहार मन की एकाग्रता के लिए की गई शारीरिक क्रियाओं (आसनों) को बताने के लिए किया जाता है। सामान्य रूप से योग-पद्धति में अपनाई जाने वाली इन शारीरिक क्रियाओं को अल्पज्ञानी मनुष्य योग की परिणति समझ बैठते हैं, किन्तु ये वास्तव में परमात्मा में मन को केन्द्रित करने के लिए होती हैं। आर्थिक उन्नति हेतु मनुष्यों को उत्पन्न करने के पश्चात् ब्रह्मा ने ऋषियों की सृष्टि की, जिससे वे आत्मबोध का आदर्श प्रस्थापित कर सकें।

तेभ्यश्चैकैकशः स्वस्य देहस्यांशमदादजः ।

यत्तत्समाधियोगद्विद्धितपोविद्याविरक्तिमत् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

तेभ्यः—उनको; च—तथा; एकैकशः—हर एक को; स्वस्य—अपने; देहस्य—देह का; अंशम्—अंश, भाग; अदात्—प्रदान किया; अजः—अजन्मा ब्रह्मा; यत्—जो; तत्—वह; समाधि—गहन ध्यान; योग—मन की एकाग्रता; द्विद्धि—नैसर्गिक शक्ति; तपः—तपस्या; विद्या—ज्ञान; विरक्ति—वैराग्य; मत्—युक्त।

ब्रह्माण्ड के अजन्मा स्रष्टा (ब्रह्मा) ने इन पुत्रों में से प्रत्येक को अपने शरीर का एक-एक अंश प्रदान किया जो गहन चिन्तन, मानसिक एकाग्रता, नैसर्गिक शक्ति, तपस्या, पूजा तथा वैराग्य के लक्षणों से युक्त था।

तात्पर्य : इस श्लोक में *विरक्तिमत्* शब्द का अर्थ है “वैराग्य गुण से युक्त।” भौतिकतावादी व्यक्तियों को आत्मबोध नहीं हो सकता। जो इन्द्रिय-भोग में लिप्त रहते हैं उनके लिए आत्मबोध प्राप्त कर पाना असम्भव है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो मनुष्य सम्पत्ति तथा भौतिक सुख-भोग की खोज में आसक्त रहते हैं, वे योग-समाधि अर्थात् कृष्णभावनामृत में तल्लीनता प्राप्त नहीं कर सकते। जो यह विज्ञापित करते हैं कि मनुष्य इस जीवन में भौतिक सुख उठाते हुए आत्मिक (आध्यात्मिक) प्रगति कर सकते हैं वह मात्र आडम्बर है। वैराग्य के चार तत्त्व हैं—(१) अवैध विषयी जीवन से बचना, (२) मांसाहार से बचना, (३) मादक द्रव्य सेवन से बचना तथा (४) द्यूतक्रीड़ा से बचना। ये चारों तत्त्व तपस्या

कहलाते हैं। आत्मबोध का विधान यह है कि मन को कृष्णभावनामृत में परमेश्वर में तल्लीन कर दिया जाय।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत “मैत्रेय-विदुर संवाद” नामक बीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।